सूरसागर और नारायणीयम् में प्रेम भक्ति: एक तुलनात्मक अध्ययन

A COMPARATIVE STUDY OF DEVOTIONAL LOVE IN SURSAGAR AND NARAYANEEYAM

शोध प्रबन्ध

कालिकट विश्वविद्यालय की डॉक्टर ऑफ फिलॉसफ़ी

हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

Thesis Submitted to the University of Calicut

For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY IN HINDI

2016

निर्देशिका:

डॉ.एम.के.अजितकुमारी.

असोसियेट प्रोफ़सर,(Rtd)हिन्दी विभाग

सरकारी आर्ट्स व साइनस कॉलिज

कोषिक्कोड।

प्रस्तुत कर्ता:

वनजा .के.जि.

शोध छात्रा

हिन्दी विभाग

सरकारी आर्ट्स व साइनस कॉलिज, कोषिक्कोड।

कालिकट विश्वविद्यालय

University of Calicut.

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **“Sursagar Aur Narayaneeyam Mem Prem Bhakthi: Ek Thulanathmak Adhyayan”** submitted for the award of Doctor of Philosophy of the university of Calicut is a bonafide record of research work carried out by Smt.Vanaja K.G, PhD Scholar, under my supervision and that no part of this thesis has hither to been submitted for a degree in any university.

(Dr.M.K Ajitha kumari)

Associate professor(Rtd)

PG Department of Hindi and Research Centre

Govt.Arts and Science College,Meenchanda,Calicut.

Meenchanda,

Date:30/06/2016

Declaration

I, Vanaja K.G. do here by declare that this thesis is a record of bonafide work carried out by me and this has not previously formed the basis for the award of any degree, diploma, associateship, fellowship or other similar title or recognition.

Vanaja K.G.

Meenchanda,

Date: 30/06/2016.

अनुक्रम

पृ.सं.

प्राक्कथन

I. अध्याय-1 भक्ति स्वरूप एवं प्रकार
1-31

1.1.भक्ति की परिभाषाएँ

1.2.भक्ति के तत्व

1.2.1.ईश्वर में अचल विश्वास

1.2.2.प्रेम

1.2.3.सेवा

1.2.4.माहात्म्य ज्ञान

1.2.5.सातत्य या नैरंतर्य

1.2.6.अनन्यता

1.2.7.प्रपत्ति

1.2.8.शरणागति और आत्मसमर्पण

1.2.9.निष्काम भावना

1.3.भक्ति का क्षेत्र

1.4.भक्ति के प्रकार

1.4.1.आलंबन के आधार पर

1.4.2.गुण के आधार पर

1.4.3.साधन-भेद के आधार पर

1.4.4.स्तर की दृष्टि से

1.4.5.जीव-भेद की दृष्टि से

1.4.6.निम्बार्क मतानुसार

1.4.7.स्थान की दृष्टि से

1.4.8.न्याय की दृष्टि से

1.5.नवधा भक्ति

1.5.1.श्रवण

1.5.2.कीर्तन

1.5.3.स्मरण

1.5.4.पादसेवन

1.5.5.अर्चन

1.5.6.वन्दन

1.5.7.आत्मनिवेदन

1.5.8.दास्य

1.5.9.सख्य

1.6.भक्ति साधन या साध्य

1.6.1.भक्ति के साधन

1.6.1.1.संस्कार

1.6.1.2.स्वाध्याय

1.6.1.3.सत्संग

1.6.1.4.सदाचार

1.6.1.5.सद्गुरुकृपा

1.6.2.भक्ति का फल

1.6.2.1.निर्भयता

1.6.2.2.पवित्रता

1.6.2.3.विश्वबन्धुता

1.6.2.4.सन्तोष एवं समरसता

1.6.2.5.आनन्दमयता

1.6.3.भक्ति के अधिकारी

1.7.निष्कर्ष

अध्याय-2 भक्ति का उद्भव एवं विकास तथा पूर्व मध्य कालीन भारतीय भक्ति साहित्य(उत्तर और दक्षिण के) 32-83

2.1.1.भक्ति का उद्भव एवं विकास

2.1.2.हिन्दी के पूर्व मध्यकालीन साहित्य में भक्ति

2.1.3.भक्ति कालीन साहित्य का वर्गीकरण

2.1.3.1.उपासना-पद्धति की दृष्टि से

2.1.3.2.विषय की दृष्टि से

2.1.3.3.प्रबन्ध की दृष्टि से

2.1.4.निर्गुण भक्ति काव्य (सन्त काव्य धारा)

2.1.4.1.कबीरदास

2.1.5.सूफ़ी अथवा प्रेमाश्रयी काव्य धारा

2.1.5.1 मलिक मुहम्मद जायसी

2.1.6.सगुण राम भक्ति शाखा

2.1.6.1.तुलसी दास

2.1.7.सगुण कृष्ण भक्ति शाखा

2.1.7.1.चैतन्य अथवा गौडीय संप्रदाय

2.1.7.2.निम्बार्क संप्रदाय

2.1.7.3.राधा वल्लभ संप्रदाय

2.1.7.4.हरिदासी अथवा सखी संप्रदाय

2.1.7.5.वल्लभ संप्रदाय

2.1.8.अष्टछाप के भक्त एवं सिद्ध कवि

2.1.8.1.कुंभनदास

2.1.8.2. परमानन्ददास

2.1.8.3. सूरदास

2.1.8.4.कृष्णदास

2.1.8.5.नन्ददास

2.1.8.6.गोविन्द स्वामी

2.1.8.7.छीतस्वामी

2.1.8.8.चतुर्भुजदास

2.1.9.संप्रदाय निरपेक्ष कृष्ण भक्तस कवि

2.1.9.1.मीराबाई

2.1.9.2. रसखान

2.1.9.3. नरोत्तमदास

2.2. दक्षिण भारत के भक्ति साहित्य

2.2.1.तमिल के भक्ति साहित्य

2.2.2.कर्नाटक के भक्ति साहित्य

2.2.3.तेलुगु के भक्ति साहित्य

2.2.4.मराठी के भक्ति साहित्य

2.2.5.केरल के भक्ति साहित्य

2.2.5.1.केरल के भक्त एवं सिद्ध कवि

2.2.5.1.1.जगत् गुरु शंकराचार्य

2.2.5.1.2.चीरामन(श्रीरामन)

2.2.5.1.3.निरणम कवि

2.2.5.1.4.तुञ्चत्तु रामानुजन एषुत्तच्छन

2.2.5.1.5.विल्वमंगलम स्वामियार

2.2.5.1.6.कुरूरम्मा

2.2.5.1.7 पून्तानम नम्पूतिरि

2.2.5.1.8.चेरुश्शेरि नंपूतिरि

2.2.5.1.9.कुंचन नंपियार

2.2.5.1.10.रामपुरत्तु वारियर

2.3.निष्कर्ष

6

अध्याय-3 सूरदास और उनका सूरसागर 84-109

3.1.1.सूरदास का जीवन वृत्त

3.1.2.परिवार और बाल्यावस्था

3.1.3.आत्मज्ञान की प्राप्ति

3.1.4.गुरु वल्लभाचार्य से साक्षात्कार

3.1.5.सूर की रचनाएँ

3.1.6.अन्तिम काल

3.2.सूरसागर (स्कन्धानुसार)

3.2.1.प्रथम स्कन्ध

3.2.2.द्वितीय स्कन्ध

3.2.3.तृतीय स्कन्ध

3.2.4.चतुर्थ स्कन्ध

3.2.5.पंचम स्कन्ध

3.2.6.षष्ठ स्कन्ध

3.2.7.सप्तम स्कन्ध

3.2.8.अष्टम स्कन्ध

3.2.9.नवम स्कन्ध

3.2.10.दशम स्कन्ध(पूर्वार्ध)

3.2.11.दशमस्कन्ध(उत्तरार्ध)

3.2.12.एकादश स्कन्ध

7

3.2.13.द्वादश स्कन्ध

3.2.14.सूरसागर का मूलस्रोत एवं अन्य विशेषताएँ

3.3.निष्कर्ष

अध्याय-4 मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरि और उनका

नारायणीयम
110-133

4.1.1.जीवन वृत्त

4.1.2. शिक्षा-दीक्षा

4.1.3.भजन एवं स्तोत्र रचना

4.1.4.अनन्तर कालीन जीवन

4.1.5.भट्टतिरि की रचनाएँ

4.1.5.1.मुक्तक

4.1.5.2.प्रशस्तियाँ

4.1.5.3.चम्पू तथा अन्य काव्त

4.1.5.4.शात्रग्रन्थ

4.1.5.5.स्तोत्र ग्रन्थ

4.2.नारायणीयम्

4.2.1.स्वरूप तथा विषय

4.2.1.1.छन्द ग्रहण

4.2.1.2. लंबे लंबे समस्त पदों का प्रयोग

4.2.1.3.स्तुतियों का त्याग

4.2.1.4 वृत्तनिराकरण

4.3. निष्कर्ष

अध्याय-5 सूरसागर और नारायणीयम में

प्रेम भक्ति: एक तुलनात्मक अध्ययन 134-223

5.1.प्रेम भक्ति

5.1.1.प्रेम भक्ति –परिभाषा

5.1.2.प्रेम भक्ति की विशेषताएँ

5.1.3.प्रेम भक्ति का लक्षण

5.1.4.प्रेम भक्ति प्राप्त भक्त का लक्षण

5.1.5.प्रेम भक्ति का फल या प्रयोजन

5.1.5.1.स्वाधीनता

5.1.5.2. पवित्रता

5.1.5.3.विश्व बन्धुत्व

5.1.5.4. प्रभु प्राप्ति

5.2.सूरसागर और नारायणीयम् में प्रेम भक्ति की तुलना

5.2.1.दास्य भक्ति

5.2.2.सख्य भक्ति,

5.2.3.वात्सल्य भक्ति

5.2.4.माधुर्य भक्ति

5.2.4.1.आत्म निवेदन

5.2.4.2. प्रेम भक्ति

5.3.निष्कर्ष

उपसंहार 224-235

Vanaja K.G “A comparative study of devotional love in sursagar and narayaneeyam” Thesis. Department of Hindi, Govt.Arts and Science College, Meenchanda,Calicut., University of Calicut, 2016.

प्राक्कथन

भक्ति या प्रेम एक प्रकार की आत्मानुभूति है जिससे हम स्वत्व,आत्मा या मानव में निहित ईश्वरीय चैतन्य की पहचान कर सकते हैं। भक्ति वास्तव में उस परमात्म चैतन्य के प्रति उत्पन्न अनन्य एवं अप्रतिम, असीम प्रेम है। भक्ति या परमात्म प्रेम प्राप्त करने के लिए नौ प्रकार के तरीके भी हैं। इसे नवधा भक्ति कहते हैं। यह नवधा भक्ति आत्यन्तिक रूप से प्रेम भक्ति तक पहूँचा देती है। प्रेम भक्ति को प्राप्त भक्तजन मोक्ष तक नहीं चाहते। ऐसे भक्त जीवन भर उस भक्ति के विशाल एवं अथाह सागर में डुबकियाँ लेते रहते हैं। भक्ति का परम उद्देश्य आत्म साक्षात्कार ही है।

संस्कृत पंडित मेल्पुतूर नारायण भट्टतिरि के 'नारायणीयम' और हिन्दी के भक्त कवि सूरदास के 'सूरसागर' दोनों प्रेम भक्ति की पूर्णता एवं महनीयता को व्यक्त करनेवाली रचनाएँ हैं। 'नारायणीयम' ज्ञान एवं भक्ति की घोषणा करती है तो 'सूरसागर' पूर्ण रूप से उस परम पवित्र भक्ति को ही दर्शाते है।

इस प्रसंग में इन दोनों रचनाओं में निहित प्रेमभक्ति की तुलना करना अत्यन्त महत्व पूर्ण कार्य होगा। इसी कारण इस शोध प्रबन्ध का नाम रखा- "सूरसागर और नारायणीयम में प्रेम भक्ति: एक तुलनात्मक अध्ययन"। प्रेम भक्ति तो निष्काम है। यह मोक्ष तक नहीं चाहती। 'श्रीमद् भगवत्' में प्रतिपादित 'प्रह्लाद, महर्षि नारद, ध्रुव ,वृन्दावन की गोपिकाएँ' आदि निष्काम प्रेम भक्ति के उत्तम उदाहरण है। इन में गोपिकाओं के कृष्ण प्रेम अत्यन्त महनीय है। निष्काम भक्ति के मकुटोदाहरण गोपिकाएँ कृष्ण को अपने ही आत्म तत्व के रूप में मानती हैं। सूरदास और मेल्पुत्तूर नारायण भट्टतिरि ने

अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार इस प्रेम भक्ति को अत्यन्त गहराई से एवं व्यक्त रूप में प्रस्तुत किया है।

इस शोध प्रबन्ध का विभाजन पाँच अध्यायों में हुआ है। पहला अध्याय है "भक्ति स्वरूप एवं प्रकार"। इस में भक्ति की परिभाषा, तथा भक्ति के विभिन्न प्रकारों की चर्चा हुई है। भक्ति संबन्धी लगभग सभी बातों का उल्लेख इसमें हुआ है।

दूसरा अध्याय है--"भक्ति का उद्भव एवं विकास तथा पूर्व मध्यकालीन भारतीय भक्ति साहित्य"। इस अध्याय में 'भक्ति के उद्भव एवं विकास तथा पूर्व मध्यकालीन भक्ति साहित्य का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भक्ति पद्धति तथा प्रमुख भक्त कवियों का उल्लेख भी इसमें किया गया है।

तीसरा अध्याय है—" सूरदास और उनका सूरसागर"। इस में हिन्दी के प्रमुख कृष्ण भक्त कवि सूरदास के जीवन चरित तथा उनसे रचित 'सूरसागर' का संक्षिप्त परिचय कराने की कोशिश की है।

चौथा अध्याय है- "मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि तथा नारायणीयम"। इस अध्याय में मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि के जीवन और उनकी श्रेष्ठ रचना 'नारायणीयम' के बारे में एक संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास किया गया है।

पाँचवाँ अध्याय है—"सूरसागर और नारायणीयम में प्रेम भक्ति: एक तुलनात्मक अध्ययन"। प्रस्तुत अध्याय में पहले प्रेम भक्ति के बारे में विशद चर्चा हुई है। फिर सूरसागर और नारायणीयम में निहित प्रेम

भक्ति का विशद वर्णन किया है। साथ ही इन दोनों में निहित प्रेम भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन भी हुआ है।

उपसंहार के रूप में इस शोध प्रबन्ध के सभी अध्यायों का जो सार है, प्रस्तुत करने के साथ साथ सांकेतिक विज्ञान के इस युग में भक्ति की क्या महत्ता है, इसके बारे में तनिक उल्लेख करने का प्रयास किया है। वर्तमान युग में लोग भक्ति की ओर अत्यधिक अग्रसर है, इसके बारे में भी अपना मन्तव्य व्यक्त किया है।

प्रस्तुत शोध कार्य कालिकट विश्वविद्यालय के अन्य केन्द्र –सरकारी आर्टस व साइन्स कॉलिज, कालिकट, हिन्दी विभाग के असोसियेट प्रोफ़सर डॉ. अजितकुमरी.एम.के. के मार्ग निर्देशन में संपन्न हुआ। इस अध्ययन में समाराध्य एवं प्यारी डॉ. अजितकुमारी.एम.के. जी ने समय समय पर जो उपदेश एवं निर्देश दिये हैं, इसके लिए मैं सबसे पहले आभार प्रकट करती हूँ। सरकारी आर्टस व साइन्स कॉलिज, हिन्दी विभाग की अध्यक्षा, डॉ .ई.मिनी के प्रति मैं आभारी हूँ जिन्होंने अनेक महत्वपूर्ण सुझाव देकर मेरी सहायता की है। इस शोध कार्य को सुगम रूप से आगे बढ़ाने में सहायक बने , विभाग के अन्य अध्यापकों, मित्रों और शुभ चिन्तकों के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

मैं अपने बन्धु-बान्धवों से भी आभार प्रकट करती हूँ, कि उनके प्यार एवं प्रोत्साहन के बिना यह कार्य इतनी सरल रूप से संपन्न नहीं हो सकता।

गुरु चरणों पर नमन करती हुई

विनीता

वनजा.के.जि,

शोध छात्रा,

हिन्दी विभाग,

सरकारी आर्टस एण्ड साइन्स कॉलिज,

कोषिक्कोड ।

Vanaja K.G “A comparative study of devotional love in sursagar and narayaneeyam” Thesis. Department of Hindi, Govt.Arts and Science College, Meenchanda,Calicut., University of Calicut, 2016.

अध्याय-1

भक्ति: स्वरूप एवं प्रकार

सर्वव्यापी उस अनन्त सत्ता के प्रति जो अनन्त प्रेम होता है,उसे भक्ति-सूत्रकार शांडिल्य"भक्ति"कहते हैं। भक्ति मन के अन्धकार को दूर करती है और मानव-हृदय में एक अपूर्व आनन्द का अनुभव उत्पन्न होता है। समस्त भौतिक संसार साधक को दु:ख ही पहूँचाता है, परन्तु परम आनन्द स्वरूप ईश्वर को ही आश्रय मानकर उसी के साथ रहना, उसके गुण गाना, उससे हटकर अन्यत्र कहीं भी न जाना,उसी में तल्लीन और मग्न होकर निर्द्वद्वत्व विचरण करना, आनन्द है। यही भक्ति मार्ग है। निष्कपट और फल निरपेक्ष भगवत् अन्वेषण ही भक्तियोग है। यह अन्वेषण प्रेम से जन्म लेकर प्रेम में पलकर प्रेम में ही विलीन हो जाता है। ईश्वर के प्रति परम प्रेमोन्माद केवल एक क्षण के लिए है तो भी वह हमें नित्य मुक्त बना देते है।

भक्ति शब्द 'भज' धातु से उत्पन्न है, जिसका अर्थ है भजना याने सेवा करना। वास्तव में उस परम ज्योति:स्वरूप भगवान की सेवा करते हुए उन चरणों में पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देना तथा उन में पूर्ण रूप से अनुरक्त हो जाना ही भक्ति कहलाता है। भगवान को प्राप्त करने के साधनों में कर्म,ज्ञान,और भक्ति-मार्ग की गणना होती है। सरलता से साध्य होने के कारण आचार्यों ने भक्ति-मार्ग को प्रमुखता दी है। भक्ति-मार्ग का प्रमुख संप्रदाय भागवत धर्म है तथा ग्रन्थ है- नारद भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, श्रीमद् भगवद् गीता, महाभारत का शान्ति पर्व, भागवत पुराण, हरिवंश पुराण तथा रामानुजाचार्य, रामानन्द, शंकराचार्य आदि दक्षिण के आचार्यों के ग्रन्थ। वेदों और उपनिषदों में भक्ति के तत्व एवं भक्त के बारे में विशद रूप से वर्णन हुए है। भक्ति ग्रन्थों में भक्ति की अनेक परिभाषाएँ, एवं लक्षण दिए गए है, तथा

उनकी विशद व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। भक्ति के आदि ग्रन्थों के रूप में वेद ही माने जाते है। वेदों में ऋग् , यजुर और सामवेद में भक्ति के बारे में चर्चा की गयी है। उपनिषदों में मुण्डकोपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद्, छान्दग्योपनिषद् आदि में भक्ति के तत्वों का वर्णन किया गया है। पुराणों में पद्मपुराण,बृहन्नारदीय पुराण कूर्मपुराण आदि में भक्ति की महिमा का गान किया है। फिर भी भक्ति के तात्विक विवेचन करनेवाले प्रामाणिक ग्रन्थों में श्रीमद् भगवद् गीता के अतिरिक्त नारद भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, रूप गोस्वामी कृत हरिभक्ति रसामृत

सिन्धु, उज्वल नीलमणि, एवं मधुसूदन सरस्वती कृत भक्ति रसायन प्रमुख ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों में भक्ति की परिभाषा,लक्षण,एवं प्रकार के बारे में बताये गये है।

1.1. भक्ति की परिभाषाएँ

वेदों में भक्ति-

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावां अस्ति देवता विदान:।

न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध।।(1)

हे,परमैश्वर्य-संपन्न प्रभु! हे सबसे प्राचीन, सनातन, शाश्वत, परमेश्वर आपके अस्तित्व से बढकर अस्तित्व यहाँ किसी का भी नहीं है। आपकी ही सत्ता सर्वोत्तम सत्ता है। आपके समान कोई ज्ञानी देव भी यहाँ नहीं है। आप जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ करेंगे, उसे यहाँ के उत्पन्न हुए और उत्पन्न होनेवाले प्राणियों में से कोई भी नहीं जानता। आप का व्यक्तित्व और आपका ज्ञान अद्वितीय है।

तदेवाग्निस्तदादित्य स्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा:।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप: स प्रजापति:।।(2)

वह प्रभु निश्चित रूप से एक है। वह एक होकर भी अनेक नामों से पुकारा जाता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, वायु, चन्द्र, ब्रह्म और प्रजापति वही एक परमेश्वर है।

वसन्त इन्नु रन्त्य: ग्रीष्म इन्नु रन्त्य:।

वर्षाण्यनुशरदो हेमन्त: शिशिर इन्नु रन्त्य:।।(3)

यदि मन भक्ति में लीन रहे तो यह विश्व हमेशा रमणीय दिखाई देता है। वसन्त हो या ग्रीष्म,वर्षा हो या शरद् ,हेमन्त हो या शिशिर सब समान रूप से सुखमय प्रतीत होता है।

उपनिषदों में भक्ति-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तैष आत्मा वृणुते तनु स्वाम्।।(4)

प्रभु की प्राप्ति, परोक्ष आत्म तत्व की उपलब्धि,प्रवचन,मेधा तथा बहुत सुनने से नहीं होती। प्रभु जिसपर कृपा करते है, उसी को उनकी प्राप्ति होती है। आत्मदेव अपना स्वरूप उसी के समक्ष खोलकर रख देते है।

"यस्य देवे परा भक्ति: यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यार्था: प्रकाश्यन्ते महात्मन:।।"(5)

यहाँ प्रभु भक्ति के साथ गुरु भक्ति पर भी बल दिया है।

"स वा एष एवं पश्यन् एवं भन्वान: एवं विजानन

आत्मरति: आत्मक्रीडा: आत्ममिथुन: आत्मानन्द:

स स्वराङ्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।।"(6)

प्रभु का उपासक सर्वत्र प्रभु को ही देखता है, प्रभु का ही चिन्तन करता है ,उसी का ही बोध करता है । वह आत्मरति, आत्मक्रीडा, आत्ममिथुन तथा आत्मानन्दी बन जाता है। वह स्वराट् है, समस्तलोकों में उसकी यथाकाम गति होती है।

पुराणों में भक्ति-

"वेदेभ्य उद्धृत्य समस्तधर्मान् योऽयं पुराणेषु जगाद देव:

व्यास स्वरूपेण जगद्धिताय वन्दे तमेतं कमलासमेतम्।।"(7)

वेद से उद्धृत समस्त धर्मों को पुराणों के रूप में इस जगत् में व्यास स्वरूप में लिवा लाये उस कमलासमेत भगवान की वन्दना करता हूँ।

"चण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तिर्द्विजाधिक:।

विष्णुभक्ति विहीनश्च द्विजोऽपि□श्वपचाधिक:।।"(8)

अगर किसी चण्डाल में विष्णु भक्ति है तो वह ब्राह्मण से भी बढकर मुनि श्रेष्ठ है। वैसे जो ब्राह्मण विष्णुभक्ति विहीन है, वह चण्डाल से भी अधम है।

"सर्वेषामेव भक्तानामिष्ट: प्रियतमो मम।

यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा।।"(9)

जो मुझे ज्ञान से अनन्य भावेन नित्य आराधना करता है, वही मेरा सबसे प्रिय एवं इष्ट भक्त है।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश:।।"(10)

हे पार्थ ! जो भक्त मुझे कैसे भजता है, वैसे मैं उसको भी भजता हूँ।

"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय:।।"(11)

जो ज्ञानी भक्त उस परम प्रेमभक्ति से युक्त है,वह मेरेलिए सबसे अधिक प्रिय है।

"स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति।।"(12)

भगवान् में हेतुरहित, निष्काम एकनिष्ठायुक्त अनवरत प्रेम का नाम ही भक्ति है। यही पुरुषों का परम धर्म है। इसी से आत्मा प्रसन्न होता है।

"श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।

क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधोतमुत्तमम् ।।"(13)

प्रह्लाद अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहते है- विष्णु के नाम, महिमा, लीला, गुणादि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनके चरणों की सेवा, उनकी पूजा, वन्दना, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन यह नवधा- भक्ति है। यदि मनुष्य भगवान् विष्णु में यह नवधाभक्ति समर्पित भाव रखते हुए करता है, तो निश्चय ही मैं उसे उत्तम भक्त मानता हूँ।

“सात्वास्मिन परमप्रेमरूपा।

अमृतस्वरूपा च।

यल्लब्ध्वा पुमान

सिद्धो भवति अमृतो भवति

तृप्तो भवति।।"(14)

भक्ति, ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा एवं अमृत स्वरूपा है। उसे प्राप्त करके मानव सिद्ध होता है, अमर होता है और तृप्त होता है। यहाँ प्रेम और तृप्ति पर बल दिया गया है।

"सा परानुरक्तिरीश्वरे"(15)

वह(भक्ति) ईश्वर से परम अनुराग है।

"अनन्याभिनषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।"(16)

चित्त में भगवत् प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य अभिलाषा न हो।साथ ही वह, प्रेम ज्ञान और कर्म आदि से अनावृत हो। अनुकूलता पूर्वक कृष्ण की सेवा करना उत्तम भक्ति है।

"द्रुतस्य भगवद् धर्माद्धारावाहिकतां गता।

सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।"(17)

सब के स्वामी भगवान के गुण, लीलादि के श्रवण और भागवद्धर्मों के सेवन से द्रवित हुए चित्त की 'भगवान की ओर धारावाहिक वृत्ति को' भक्ति कहते हैं।

इनके अलावा श्री शंकराचार्य विरचित विवेकचूडामणि, देवी भागवत, श्रीमध्वाचार्य, श्री वल्लभाचार्य की कृतियाँ आदि में भी भक्ति संबन्धी परिभाषाएँ मिलती है।

"मोक्षकारणसामग्र्याँ भक्तिरेव गरीयसी।

स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।।"(18)

मुक्ति के जितने हेतु हैं, उनमें भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। अपने स्वस्वरूप का अनुसन्धान ही भक्ति है।(यही परा भक्ति है।देवादि विषयक भक्ति अपरा भक्ति है।)

"भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितं।

वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यत:।।"(19)

पराभक्ति और ज्ञान की एकता बताते हुए देवी हिमालय से कहती हैं-"भक्ति की जो पराकाष्ठा है, उसी को ज्ञान कहा गया है। वह वैराग्य की भी सीमा है। ज्ञान में भक्ति और वैराग्य दोनों है।"

"माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ: सर्वतोऽधिक:।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्य मुक्तिर्नचान्यथा।।"(20)

भगवान की महिमा के ज्ञानपूर्वक उनके प्रति सुदृढ और सर्वाधिक (स्त्री-पुत्र-देह-गेहादि से अधिक) प्रेम को भक्ति कहा गया है। उस भक्ति के द्वारा ही जीव की मुक्ति है,अन्यथा नहीं।

8

आध्यात्म रामायण के युद्धकाण्ड में रावण से कुम्भकर्ण बताते हैं- भक्ति महाज्ञान की माता है। भक्ति सतत् मोक्षदायिनी है। जो भक्ति विहीन है उसका कर्म निष्फल है। इसलिए हे रावण! तू राघव को भज। भक्ति से राघव प्रसन्न हो जाएँगे। (21)

भक्ति की इन सारी परिभाषाओं से यही अनुभूत हो जाते हैं कि उस परम प्रेमस्वरूप भगवान के प्रति उत्पन्न अनन्य एवं निष्काम प्रेम ही भक्ति कहलाते हैं।

1.2.भक्ति के तत्व

भक्ति मार्ग में बढनेवाले भक्तों को भक्ति की विशेषतायें, लक्षण या तत्व के बारे में अवश्य जानना चाहिए। ऐसे तत्व मुख्य रूप से आठ माने जाते हैं।

1.2.1. ईश्वर में अविचल विश्वास

भक्ति की सर्व प्रथम विशेषता यह है कि जीव को प्रभु की सत्ता, कृपा-कारुण्य, दया-दाक्षिण्य एवं शक्तिमत्ता में पूर्ण रूप से विश्वास एवं आस्था हो। अगर विश्वास डगमग हो जाये तो फिर भक्ति प्रासाद की नींव ही हिल जाएगी।

1.2.2. प्रेम

भक्ति में सर्वोपरि एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व 'प्रेम' है। "तत्व वस्तु कृष्ण, कृष्ण भक्ति प्रेम रूप।"(22)यही तत्व भक्ति को अन्य साधना मार्गों से पृथक करता है और इसी तत्व के एकाधिकार के कारण भक्ति अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करती है। संत कबीर कहते है-

"ढाई आखर प्रेम का पढे सो पंडित होय"। हिन्दी साहित्य के सभी भक्त कवियों ने इस प्रेम की प्रशंसा की है।

प्रेम विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। शुद्ध प्रेम वही है जो निष्काम भाव से स्वसुख की इच्छा न करते हुए परमात्मा के लिए हो। इसी को, चैतन्य संप्रदाय में 'कृष्ण सुख तात्पर्य' कहा गया है।

2. 1.3. सेवा

भक्ति में सेवा की बडी चर्चा की गई है। स्वयं भक्ति का अर्थ ही सेवा है । भक्ति शब्द भज सेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनाया है। जिसका अर्थ है भगवान की सेवा करना।

गरुड पुराण में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है-

"भज इत्येष वै धातु: सेवायां परिकीर्तिता।

तस्मात् सेवा बुधै: प्रोक्ता भक्ति साधन भूयसी।।"(23)

इसके अनुसार 'भज' धातु का अर्थ सेवा और प्रत्यय का अर्थ प्रेम है। अत: सेवा में भगवान की प्रेमपूर्वक सेवा स्वयमेव अन्तर्निहित है। दास्य भक्ति का तो 'सेवा' तत्व प्राण ही है। वात्सल्य में पुत्र-सेवा इसके अन्तर्गत आती है।'सेवा' में प्रेम एवं माहात्म्यज्ञान दोनों रहते हैं।

1.2.4. माहात्म्य ज्ञान

नारद जी ने माहात्म्य-ज्ञान के संदर्भ में व्रजांगनाओं का उदाहरण दिया है कि वे माहात्म्य ज्ञान के साथ-साथ प्रेम का निर्वाह कर सकी। इसके अभाव में प्रेम जार के प्रेम सदृश हो जाता है-

"असत्येवमेवम् यथा व्रजगोपिकानाम्।

तत्रापि न माहात्म्य-ज्ञान विस्मृत्यपवाद:।

तद्विहीनम् जाराणामिव।"(24)

बिना माहात्म्य-ज्ञान का प्रेम स्वसुखी होता है, इसलिए वहाँ अहं का नाश न होने पर मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

1.2.5. सातत्य या नैरंतर्य

भक्ति साधना में निरंतरता या अविच्छिन्नता भी एक अनिवार्य शर्त है। सभी आचार्यों ने इसके महत्व को स्वीकार किया है। यह तो भक्ति का एक अभिन्न तत्व है। इसके अभाव में ईश्वर के प्रति परानुरक्ति की स्थिति आ नहीं सकते , साधारण जीव यदि चौबीसों घंटों में से "फर्ज अदायगी" के रूप में यदि दो-चार मिनट केलिए प्रभु स्मरण कर लें तो उन्हें भक्ति के प्रतिष्ठित आसन पर बिठाया नहीं जा सकता। इसलिए नारद जी ने अपने भक्ति सूत्र में "परम व्याकुलता" पर महत्व दिया है। जब हमारा जीवन प्रभुमय हो जाय, तभी यह स्थिति आती है। इस सातत्य का उदाहरण भी गोपिकाओं की दिनचर्या से दिया गया है कि जो गउओं का दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकों को पालने में झुलाते समय, रोते हुए बच्चों को लोरी देते समय, प्रेम पूर्ण चित्त से आँखों में आँसू भरकर गद्गद् वाणी से श्रीकृष्ण के नाम और गुणों का गान किया करती हैं। इस प्रकार सदा श्रीकृष्ण के रूप में ही चित्त लगाये रखनेवाली गोपिकाएँ धन्य हैं।(25)

1.2.6.अनन्यता

बिना अनन्यता के भक्ति टिक नहीं सकती। इसलिए प्रेम, सातत्य और अनन्यता भक्तिमार्ग में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस अनन्य भावना

का उल्लेख सभी आचार्यों एवं भक्तों ने यथास्थान किया है। भगवान कृष्ण 'गीता' में अर्जुन को इसी अनन्य भावना का उपदेश देते है-

"अनन्यश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।

तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहं।।"(26)

अनन्य भाव से जो जन नित्य मेरी उपासना करते रहते है, उनके योगक्षेम का दायित्व स्वयं मैं ही लेता हूँ।

वैसे सूरदास के "मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै" में उनकी अनन्य भक्ति भावना ही प्रकट होती है। श्रेष्ठ भक्ति की कसौटी है अनन्य भावना। लौकिक जीवन में भी अनन्य भावेन किसी की सेवा पुरस्कृत हो जाए तो भगवान की महिमा का तो कहना ही क्या?

1.2.7. प्रपत्ति,शरणागति और आत्मसमर्पण

भक्त सर्वात्मना आत्मसमर्पण करके प्रभु के चरणों में आश्रय ले लेता है तो शरणागति की स्थिति आती है। जिसमें प्रभु के प्रति दृढ विश्वास , एवं स्वयं में अहं का नाश और दैन्य का प्रकाश है, ऐसे शरणागत का भगवान उद्धार करते है तथा उसे पाप-मुक्त करते हैं।

श्रीमद् भगवद् गीता में ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रपत्ति' को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। असल में प्रपत्ति और साधारण भक्ति में मूल भेद यह है कि भक्त सोचता है कि भगवान मेरे है और उनकी सेवा का उत्तरदायित्व मुझ पर है। किन्तु प्रपन्न समझता है कि मैं भगवान का हूँ अतएव मेरी रक्षा का भार भगवान पर है। भगवान से मिलने की परम व्यग्रता को प्रपत्ति कहते हैं। प्रपत्ति के दो भेद हैं- शरणागति और आत्मसमर्पण।

प्रपन्न अपना समय एक क्षण के लिए भी नहीं खोता। नाम-गुण गान में रुचि और अव्यर्थ कालत्व, ये उसके दो बडे गुण होते हैं।

1.2.8. निष्काम भावना

उच्चकोटि की भक्ति केलिए निष्काम भावना की अत्यन्त आवश्यकता है। श्रीमद् भगवद् गीता में बार बार उसकी महत्ता प्रतिपादित की गई है। आत्मसमर्पण करने के उपरान्त भक्त की स्वयं की कामनाएँ नि:शेष हो जाती है। फिर वह संपूर्ण कार्य प्रभु प्रसाद निमित्त ही करता है। आत्मसमर्पण द्वारा सब कामनाएँ प्रभु को समर्पित कर देने के बाद अपनी कामनाएँ तो रही नहीं। इसलिए 'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति को साधन और साध्य दोनों कहा गया है। भक्त की यदि कोई इच्छा होती है तो यही कि उसका भक्ति-भाव दिन-प्रतिदिन विकसित एवं सर्वाधिक होता रहे।

गीता में श्रेष्ठ भक्ति के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए है-

यो न हृष्यति न द्वेषति न शोचति न कांक्षति।

शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्य: स मे प्रिय।।(27)

भक्ति के उक्त तत्वों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहूँचते हैं कि भगवान के प्रति निष्काम प्रेम ही भक्ति है।जो भक्त श्रद्धा और विश्वास के साथ अनन्य प्रेम पूर्वक प्रभु को आत्मसमर्पण कर देता है, प्रभु उसे दृढ़ भक्ति प्रदान करके शरणागत कर लेते हैं।

1.3.भक्ति का क्षेत्र

देवी भागवत के अनुसार-"पूज्येष्वनुरागो भक्ति:' याने पूज्य जनों में अनुराग ही भक्ति है।(28)भक्ति की इस परिभाषा के अन्तर्गत,

पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरुभक्ति, देशभक्ति आदि का समाहार हो जाता है। इस प्रकार भक्ति का क्षेत्र अतिव्यापक हो जाता है। परन्तु जब हमारा संबन्ध ईश्वर भक्ति से है तो भक्ति के इस क्षेत्र में ज्ञान और कर्म का भी समावेश हो जाता है। भक्ति ज्ञान- मूला भी होती है और कर्ममूला भी। इसलिए 'गीता' में केवल दो निष्ठाओं की ही चर्चा की गई है-

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पूरा प्रोक्ता मयाऽनघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनां।।(29)

श्रीमद् भागवत तथा देवी भागवत पुराण में ज्ञान,कर्म और भक्ति को पृथक-पृथक स्वीकारा है।(30) श्रीमद् भागवत में भक्ति को सर्वोपरि सिद्ध किया गया है। भागवत माहात्म्य में भक्ति नारद से कहती है-"मेरा नाम भक्ति है, ये ज्ञान और वैराग्य मेरे पुत्र हैं।(31) याने ज्ञान,कर्म और भक्ति एक दूसरे में अनुस्यूत है, एक दूसरे के पूरक है।

1.4.भक्ति के प्रकार

महा भक्तों एवं आचार्यों ने भक्ति के प्रकार के बारे में अपने अपने मत प्रकट किये है। भक्त नारद, भक्त प्रह्लाद आदि ने नवधा भक्ति के बारे में बताये है। आलंबन, गुण आदि के अनुसार विभिन्न आचार्यों व भक्तों ने भक्ति के दस प्रकार माने है।

1.4.1.आलंबन के आधार पर

आलंबन के आधार पर भक्ति के दो भेद किए जा सकते हैं। 1.निर्गुण भक्ति और 2.सगुण भक्ति। एक में आलंबन निराकार ब्रह्म है तो दूसरी में साकार। श्रीमद् भागवत में सगुण भक्ति को ही महत्व दिया गया है।

1.4.2.गुण के आधार पर

देवी भागवत पुराण में गुण के आधार पर भक्ति के तीन भाग किए गए है-1.तामसी भक्ति,2.राजसी भक्ति,3.सात्विक भक्ति। तामसी भक्ति केवल भ्रमात्मक है, इसमें अज्ञान ही प्रथम कारण है। यह अविद्या माया के अन्तर्गत आती है, इसमें दूसरों को कष्ट एवं हानि पहूँचाने की भावना भी कार्य करती है। राजसी भक्ति में फल की इच्छा प्रबल रूप से रहती है। भिन्न भिन्न देवताओं की पूजा इसी के अन्तर्गत है। सात्विक भक्ति उच्चकोटि की भक्ति है। यह अनन्य भावेन निष्काम रूप से प्रभु की भक्ति है। यहाँ फलेच्छा नहीं है। यही सात्विक भक्ति परा-भक्ति है। ये भेद सगुण भक्ति के अन्तर्गत है।

1.4.3.साधन -भेद के आधार पर

साधन भेद की दृष्टि से भक्ति के दो भेद है-1.वैधी 2.रागानुगा। वैधी भक्ति शास्त्रानुगा है इसमें कर्म प्राधान्य है। इसे मर्यादा-मार्ग भी कहते है और रागानुगा भाव प्रधान। 'वैधी' भक्ति प्रथम कोटि का है। अधिकांश भक्ति वैधी तक ही सीमित रहती हैं। रागानुगा तक कोई-कोई पहूँच पाता है। रागानुगा भक्ति भी दो प्रकार की होती है--1.कामानुगा 2.संबन्धानुगा। कामानुगा कभी काम-रूपा भी होती है तो कभी काम-प्राया। कान्ताभाव कामानुगा की कोटि में तथा शेष भाव संबन्ध रूप श्रेणी में उपन्यस्त किये गये हैं। कामरूपा भक्ति मानसी स्थिति है, जिससे स्वसुखी भावना लेश मात्र नहीं रहता। जहाँ स्वसुख की भावना है उसे कामप्राया कहते हैं। कामरूपा भक्ति गोपियों में और कामप्राया कुब्जा में दिखाई देती है।

1.4.4.स्तर की दृष्टि से

भक्ति के स्तर-भेद से दो प्रकार है-1.गौणी भक्ति या अपरा भक्ति ,2.परा भक्ति। परा भक्ति ही आदर्श एवं उच्चकोटि की भक्ति है। यही रागानुगा है। गौणी भक्ति प्रथम कोटि की है। इसमें बाह्याचारों की प्रधानता है। भक्ति की यह प्ररंभिक अवस्था है। खेद की बात है कि कभी कभी यह गौणी भक्ति, धार्मिक अन्धता, कट्टरता और सांप्रदायिकता को राह देती है।

1.4.5.भक्तों की दृष्टि से

भक्तों की दृष्टि से भक्ति चार प्रकार की बताई गई है-1.आर्त की भक्ति, 2.अर्थार्थी की भक्ति, 3.जिज्ञासु की भक्ति और 4.ज्ञानी की भक्ति। इन में द्रौपदी की भक्ति आर्त-भक्ति के अन्तर्गत आ सकती है। प्रत्येक साधारण कोटि के व्यक्ति के हृदय में अर्थार्थी की भक्ति ही रहती है। जिज्ञासु भक्ति के उदाहरण उद्धव है , और ज्ञानी के भक्त राज प्रह्लाद। भगवान को ज्ञानी भक्त ही अधिक प्रिय है। क्यों कि वह मुक्ति की कामना भी नहीं करता। यही भक्ति पराभक्ति है। यही निष्काम अनन्य भक्ति है।

1.4.6.रस अथवा भाव की दृष्टि से

इस दृष्टि से भक्ति के पाँच अंग होते है- 1.शान्त, 2.दास्य, 3.सख्य, 4.वात्सल्य, 5.उज्ज्वल अथवा मधुराभक्ति। इसे यों भी कह सकते है-शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता।

1.4.7.जीव भेद की दृष्टि से

वल्लभाचार्य ने इस दृष्टि से भक्ति को तीन भेद किए है-1.पुष्टि भक्ति, 2.मर्यादा पुष्ट भक्ति और 3.प्रवाह पुष्ट भक्ति। इसमें पुष्टि भक्ति को सर्वोपरिता दी गई है। यहाँ भगवद अनुग्रह रहता है।

1.4.8.निंबार्क मतानुसार

निंबार्काचार्य ने भक्ति के भेद इस प्रकार किये हैं- साधन या अपरा भक्ति, 2.उत्तम या पराभक्ति। साधन भक्ति के दो और भेद है-1.विधि भक्ति (महैश्वर्य प्रधान) और रुचि भक्ति(मधुरैश्वर्य प्रधान)।

1.4.9.स्थान की दृष्टि से

कृष्ण दास कविराज ने इस दृष्टि से भक्ति के दो भेद किए हैं-1.ऐश्वर्य ज्ञान मिश्रा भक्ति और 2.केवला भक्ति। प्रथम मथुरा, द्वारका और वैकुण्ठ में दिखाई पडती है, द्वितीय गोकुल में।

1.4.10.न्याय की दृष्टि से

भक्ति क्षेत्र में दो न्याय प्रसिद्ध है- 1.मर्कट किशोर न्याय तथा 2.मार्जार किशोर न्याय। मर्कट किशोर न्यायवाले भक्त भगवान से वात्सल्य या स्नेह की कामना करते है तो मार्जार- किशोर न्यायवाले स्वयं बालक रूप भगवान पर वात्सल्य स्नेह की वर्षा करते हैं। (मर्कट किशोर अपने माता के पीठ पर स्वयं आश्रय लेते हैं परन्तु मार्जार किशोर को स्वयं माता ही अपने मुँह में सावधानी से लेकर उसकी रक्षा करती है।)

इस प्रकार अनेक भक्तों व आचार्यों ने भक्ति के अनेक प्रकार बताये हैं। लेकिन श्रीमद् भागवत, भगवत् गीता आदि पुराण ग्रन्थों में जो नवधा भक्ति के बारे में बताये गये हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भक्ति के प्रकारों में नवधा भक्ति की भी चर्चा करना कदापि अनुचित नहीं होगा।

1.5.नवधा भक्ति

"श्रवणं कीर्तनं विष्णो:स्मरणं पादसेवनं।

अर्चनं वन्दनं दास्यं

सख्यमात्मनिवेदनम्।।"(32)

नवधा भक्ति के 'भागवत' में इसप्रकार उल्लिखित किये गये है-1.श्रवण, 2.कीर्तन, 3.स्मरण, 4.पादसेवन, 5.अर्चन, 6.वन्दन, 7.दास्य, 8.सख्य और 9.आत्मनिवेदन।

1.5.1.श्रवण

भगवान के यश, महत्ता, गुण, उनका पावन नाम तथा उनकी लीलाओं को श्रद्धापूर्वक सुनना और सुनाना श्रवण भक्ति है। उपनिषदों में त्रिपाद्विभूतिमहानारायण उपनिषद् में भगवान की कथा श्रवण का महत्व बतलाया गया है। इसमें लिखा है -"जब सद्गुरु का कृपाकटाक्ष होता है तब भगवान की कथा सुनने एवं ध्यान आदि करने में श्रद्धा उत्पन्न होती है"(33)।भागवत के विभिन्न स्थानों में कथा श्रवण की महिमा के बारे में बताये गये हैं।

वैसे हिन्दी के भक्त, सूरदास, नन्ददास, मीराबाई, रसखान आदि ने भी श्रवण के महत्व के बारे में बताये हैं।

1.5.2.कीर्तन

भगवान के नाम, गुण, माहात्म्य और लीला आदि का वर्णन, गान तथा पाठ कीर्तन कहलाता है। श्रीमद् भागवत में कीर्तन भक्ति की बहुत महिमा कही गई है। भागवतकार कहते हैं-"दोष निधि कलियुग में एक ही महान् गुण है कि भगवान कृष्ण के कीर्तन से मनुष्य लौकिक आसक्ति से छुट जाता है।"

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान गुण।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्ग: परं व्रजेत्।।(34)

विष्णु पुराण में और बृहन्नारदीय पुराण में नाम कीर्तन का महत्व बतलाते हुए लिखा है--"जो फल सत् युग में ध्यान, त्रेता युग में यज्ञ और द्वापर युग में देवार्चन करने से प्राप्त होता है वह कलियुग में कृष्णचन्द्र का नाम कीर्तन करने से मिल जाता है।

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायाँ द्वापरेऽर्चन

यदाप्नोति नदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्।(35)

"बिना जाने भी उनका (भगवान का) नाम ले लेता है, वह पापों से छुटकर श्रेष्ठ पद को प्राप्त होता है।"(36)

1.5.3.स्मरण

भगवान के नाम, उसके गुण, माहात्म्य, उसकी सर्वव्यापकता, लीला आदि का हमेशा ध्यान रखना तथा उसी की याद में लीन रहना स्मरण भक्ति है। श्रीमद् भागवत में

स्मरण भक्ति का प्रलोभन तथा उसकी महिमा का वर्णन अनेक स्थानों पर हुआ है तथा नाम-स्मरण का बहुत महत्व बताया गया

19

है। एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं-"जो कोई विषय का चिन्तन किया करता है उसका मन विषय कर्मों में लीन रहता है और जो व्यक्ति निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसका मन मुझमें ही लीन हो जाता है।"

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्ञते।

मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।।(37)

विष्णु पुराण में स्मरण-भक्ति का बहुत अधिक महत्व बताया गया है। एक स्थान पर लिखा है-"श्री विष्णु भगवान का अहर्निश स्मरण करने से संपूर्ण पाप क्षीण हो जाने के कारण मनुष्य फिर नरक में नहीं जाता"।

तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन्पुरुषो मुने।

न याति नरकं मर्त्य: संक्षीणाखिलपातक:।।(38)

1.5.4.पादसेवन

श्रीमद् भागवत में पादसेवा का बहुत महत्व बताया गया है। भागवतकार ने विभिन्न स्थानों पर शंकर, ब्रह्मा, गरुड आदि के माध्यम से भगवान कृष्ण की पदवन्दना का महत्व बताये हैं।

1.5.5.अर्चन

श्रद्धा और आदर के साथ भगवान के स्वरूप की पूजा ही अर्चना-भक्ति कही जाती है। विष्णु पुराण में अर्चना-भक्ति की महिमा बतलाते हुए लिखा है-"जिसका चित्त जप, होम, अर्चना आदि करते हुए निरन्तर वासुदेव में लगा रहता है उसके लिए इन्द्र पद आदि फल अन्तराय है"।

20

वासुदेव मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु।

तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्र त्वादिकं फलं।।(39)

1.5.6.वन्दन

श्रीमद् भागवत में कहा गया है-"भक्त लोग जब अपने इष्ट के गुण और नाम का कीर्तन करते हैं तब उनका हृदय प्रेम रस में मग्न हो जाता है। वे विवश होकर उन्मत्तों की भांति कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी नामोच्चारण करते हुए गाते हैं और नाचने लगते हैं। वे आकाश, जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, चराचर प्राणी, दसों दिशायें, वृक्ष आदि सबको विराट पुरुष हरि का शरीर मानकर उनको प्रणाम करते हैं और हरि से भिन्न किसी भी प्राणी अथवा वस्तु को नहीं देखते"।(40)

विष्णु पुराण में भी वन्दना का महत्व स्थान स्थान पर वर्णित है। एक स्थान पर लिखा है-"जो व्यक्ति हरि की वन्दना करते हैं उन्हें यमदूत भी कष्ट नहीं दे सकते"।(41)

1.5.7.आत्मनिवेदन

भक्त भगवान के सामने अपना हृदय खोलकर रख देता है। वह जानता है कि प्रभु से कोई बात छिपाई नहीं जा सकती। श्रीमद् भागवत में ऐसे अनेक स्थल है जहाँ भक्त भगवान के सामने आत्मनिवेदन करता है।(42)

1.5.8.दास्य

श्रीमद् भागवत में दास्य भाव की भक्ति से पूर्ण अनेक स्थल है। भागवत के दशम स्कन्ध में भगवान शंकर, ब्रह्माजी आदि की जो श्रीकृष्ण

स्तुति है, वह उनकी दास्य-भावना को पूर्ण रूप से प्रकट करती है। ऐसी दास्य भक्ति भागवत में अनेक स्थानों पर मिलती है।

1.5.9.सख्य

भगवान से सखा (मित्र) भाव प्रकट करते हुए जो भक्ति है वह भागवत में अनेक स्थल देखने को मिलता है। दशम स्कन्ध में जो ब्रह्मा की कृष्ण स्तुति है, उसमें भागवतकार का कहना है-

“अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।।(43)

(व्रज के निवासी नन्दगोप और अन्य गोप-गोपिकाएँ धन्य है जिनका परमानन्दपूर्ण सनातन ब्रह्म् मित्र है।)

सुदामा की सख्य भक्ति तो प्रसिद्ध है, जिसका वर्णन भागवत में विस्तृत रूप से हुआ है। (44)

इस प्रकार भक्तिमार्ग में नवधा भक्ति की अपनी विशेषता है। इस नवधा भक्ति के कुछ लक्षण तो वैधी भक्ति में आते है और सख्य,आत्मनिवेदन आदि रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत। नवधा भक्ति के द्वारा प्रेम भक्ति को प्राप्त करना ही भक्त का लक्ष्य होता है। नारद, प्रह्लाद आदि ऐसे भक्त हैं।

1.6.भक्ति साधन या साध्य

भक्ति साधन या साध्य-इस विषय में नारद जी कहते है कि भक्ति स्वयंभू, साधन और साध्य है। वह स्वयं फल रूप है। भक्त के लिए भक्ति ही काम्य है, मुक्ति नहीं।

"भक्ति र्भगवतो सेवा भक्ति: प्रेमस्वरूपिणी।

भक्तिरानन्दरूपो च भक्ति: भक्तस्य जीवनम्।।"(45)

जब भक्ति ईश्वरानुरक्ति-काम्य है तो उसके प्राप्त होने पर भी भक्ति की साधन रूप में आवश्यकता तो रहती ही है। इसलिए भक्ति में एकतानता , अखंडता, निरंतरता, अव्याहतता या अव्यावृत भजन की महत्ता है। ज्ञानी और भक्त का अन्तर स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द कहते है-" ज्ञानी भक्ति को मुक्ति का साधन मानता है और भक्त के लिए भक्ति साधन और साध्य दोनों है।(46)

1.6.1.भक्ति के साधन

भक्ति के साधन के बारे में नारद जी कहते है -अव्यावृत भजन द्वारा, विषय-त्याग द्वारा, लोगों के बीच भगवान के गुणों के श्रवण और कीर्तन द्वारा, महापुरुषों की कृपा द्वारा, भगवत्कृपा से हृदय शुद्धि द्वारा यह भक्ति उत्पन्न होती है।(47) इसका यदि क्रम दें तो भक्ति-साधन ये होंगे।

1.6.1.1.संस्कार

भक्ति साधना के लिए सर्वप्रथम संस्कार की आवश्यकता है। यदि किसी व्यक्ति में पूर्वजन्म के संस्कार सुरक्षित है तो उसकी वृत्ति भगवदुन्मुखी होगी। संस्कार के

अभाव में इधर वृत्ति उन्मुख करना कष्ट कारक है। पूर्वजन्म के संस्कार वश ही हाथी रूपी इन्द्रद्युम्न को भक्ति जाग पडी और उसे मोक्ष मिला।

1.6.1.2.स्वाध्याय

भक्ति में स्वाध्याय का भी महत्व है। स्वाध्याय के द्वारा हृदय शुद्ध होता है और महात्माओं के वचनों के सुप्रभाव में व्यक्ति ईश्वरोन्मुख हो जाता है। इसलिए भक्ति के इच्छुकों को सदैव धार्मिक ग्रन्थों, महापुरुषों के वचनों एवं उनके आचरण का अनुशीलन करना चाहिए।

1.6.1.3.सत्संग

भक्ति में सत्संग की महत्ता सर्वाधिक है। नारद जी कहते है कि भक्ति महत्कृपा से प्राप्त होती है।(48) सन्त पारस मणि सदृश अपने संपर्क में आनेवालों को भी स्वयं जैसा बना देते है। महर्षि वात्मीकी, भक्त प्रह्लाद आदि की कथा इसकेलिए पर्याप्त प्रमाण है।

1.6.1.4.सदाचार

स्वाध्याय और सत्संग से सदाचार की पुष्टि होती है। इसके द्वारा हृदय विशुद्ध होता है और फिर उसमें विषयासक्ति के स्थान पर ईश्वरानुरक्ति उद्बुद्ध होती है।

1.6.1.5.सद्गुरु कृपा

भक्ति साधना में सभी संप्रदायों ने सद्गुरु की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है। निर्गुण-सगुण सभी भक्तों ने मुक्त-कण्ठ से गुरु- महिमा वर्णित की है। सद्गुरु असल में वही है जो शिष्य के हृदय से अज्ञान का अन्धकार नष्ट करके उसे भक्ति रूपी प्रकाश में आलोकित कर देता है। अज्ञान रूपी अन्धकार का निवारण करनेवाला गुरु कहलाता है।

इन कतिपय भक्ति साधनों को करते करते भगवान की कृपा से उनकी प्रेमभक्ति प्राप्त हो जाती है। यही नारद का मत है।

1.6.2.भक्ति का फल

नारद भक्ति सूत्र के अनुसार भक्ति का फल भक्ति ही है। (49) लेकिन यहाँ भक्ति के आविर्भूत होने पर भक्तों में घटित होनेवाले लक्षण पर चर्चा करते है।

1.6.2.1.निर्भयता

प्रभु के शरणागत होने पर भक्त में निर्भयता आती है। क्यों कि जब उसका संबन्ध सूत्र उस महान शक्ति के साथ जुड गया है जो 'अणोरणीयान महतो महीयान' है। फिर उसे सांसारिक किसी भी पदार्थ का भय नहीं रहता।

1.6.2.2.पवित्रता

भक्ति के हृदय में उत्पन्न हो जाने के पश्चात् भक्त का मन, वाणी, और कर्म पवित्र हो जाते है। वहाँ कपट और पाखण्ड का नाम-मात्र नहीं रहता। किसी के प्रति वैर-विद्वेष भावना भी नहीं उत्पन्न होता।

1.6.2.3.विश्वबन्धुता

भक्ति के उदय होने पर भक्त 'सियाराममय सब जग जानी' की भावना से आपूरित होकर समस्त संसार को एवं उसके प्रत्येक कण-कण को प्रभुमय ही देखता है। वह 'सर्वंखल्विदं ब्रह्मं' की भावना में विश्वास करके सभी प्राणियों के साथ सौहार्द का भाव रखता है।

1.6.2.4.सन्तोष एवं समरसता

भगवान में अमिट विश्वास करके फिर भक्त सुख- दु:ख, हानि-लाभ आदि राग-द्वेष से परे रहता है। वह प्रभुमय होकर समरस हो जाता है।उसकी अपनी इच्छाएँ एवं कामनाएँ जब प्रभु पर अर्पित हो जाती है तब उसे सुख या दु:ख व्यापता ही नहीं। यही स्थिति वृन्दावन की गोपियों की थी।

1.6.2.5.आनन्दमयता

प्रभु को अपना जीवन अर्पित कर देने पर भक्त सदैव प्रभु के गुण गान में लीन रहता है। उसकी तदाकार वृत्ति हो जाती है, अत: वह अपने आराध्य में तन्मयता का अनुभव

करके अखंड आनन्द-लाभ करता है। भक्तों के अन्य गुण विनय शीलता, सेवा भाव, परोपकार आदि इन्हीं में समाविष्ट हो सकते है।

1.6.3.भक्ति के अधिकारी

नारद जी ने भक्ति के अन्तरायों को -दु:संग, माया, ममता, लोकबन्धन, योगक्षेम, चिन्ता, कर्माकर्मफल, द्वन्द्व, वेद-मोह आदि को त्यागनेवाले को ही भक्ति का अधिकारी कहते है।(ना.भ.सू.43-47) दु:संग दो प्रकार है-आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक दु:संग में काम, क्रोध आदि षड् रिपुओं की गणना है तो बाह्य में दुष्ट मानवों की।

पुराणों के अनुसार ब्राह्मण-शूद्र, नर-नारी, बालक- वृद्ध सभी निर्विशेष भाव से भक्ति के अधिकारी है। देवी भागवतम्,(50) बृहन्नारदीय पुराण(51) और भगवद् गीता(52) में कहा है कि ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति होने पर चण्डाल भी श्रेष्ठ हो सकता है और ईश्वर भक्ति विहीन ब्राह्मण भी चण्डालाधम हो सकता है।

1. चाण्डालोऽपि मुनि श्रेष्ठ:विष्णु भक्तो द्विजाधिक।

विष्णुभक्ति विहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिक:।।(बृ.पु)

2.अहो वत् श्वपचोऽपि गरीयान।

यज्जिह्वाग्रे वर्तने नामं तुभ्यम्।।(गीता)

इस प्रकार भक्ति मार्ग का द्वार सभी केलिए खोल दिया गया है। ध्रुव, प्रह्लाद जैसे बालक, राधा, मीराँ, दयाबाई जैसी नारियों, कबीर, नामदेव, रैदास जैसे द्विजेतर, रहीम, रसखान,यारी साहब जैसे मुसलमान व्यक्तियों को भक्ति मार्ग में उच्च स्थान दिया गया। भक्ति मार्ग में केवल हरिप्रेम की आवश्यकता है, और कुछ नहीं।

1.7.निष्कर्ष

परमानन्द स्वरूप ईश्वर के प्रति उत्पन्न निष्काम, अकैतव प्रेम ही भक्ति है। नारद, शांडिल्य, भागवतकार आदि भक्ति के आचार्यों ने यही कहा है। वेदों, उपनिषदों और पुराणों के अनुसार भक्ति, परम प्रेम स्वरूप भगवान के प्रति किसी के मन में उत्पन्न अथाह, अनन्य और निष्काम प्रेम ही है। अटल विश्वास, प्रेम, सेवा, माहात्म्य ज्ञान, सातत्य या नैरंतर्य, अनन्यता, प्रपत्ति, शरणागति और आत्म समर्पण तथा निष्काम भावना भक्ति को बढ़ानेवाले तत्व है। भक्ति का क्षेत्र व्यापक है, तो भी ईश्वर भक्ति के क्षेत्र में भगवद्गीता ज्ञान और कर्म को ही

प्रमुखता दी है। परंतु देवी भागवत में ज्ञान, कर्म और भक्ति को अलग कर दिया है और भक्ति को अधिक महत्व भी दिया है। श्रीमद् भागवत के अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति का आपसी संबन्ध है, एक दूसरे का पूरक है।

आलंबन, गुण, साधन, स्तर, भक्त, रस या भाव, जीव भेद, निम्बार्क मत, स्थान, न्याय आदि के आधार पर भक्ति के विभिन्न प्रकार होते हैं- जैसे निर्गुण-सगुण; तामसी-राजसी-सात्विक; वैधी-रागानुगा; अपरा-परा; आर्त-अर्थार्थी-जिज्ञासु आदि आदि....।वैसे भक्ति के प्रकारों में नवधा भक्ति ही प्रमुख है। ये हैं- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन। नवधा भक्ति के द्वारा ही भक्त प्रेम भक्ति तक पहूँचता है। भक्ति के साधन के रूप में हम संस्कार, स्वाध्याय, सत्संग, सदाचार, सद्गुरु कृपा आदि को मानते हैं। इन्हीं साधनों के माध्यम से भक्त भगवद् कृपा प्राप्त कर सकता है तथा प्रेम भक्ति में तल्लीन हो जाता है। भक्ति का फल आत्यंत रूप से भक्ति ही है। तो भी आचार्यों ने निर्भयता, पवित्रता, विश्वबन्धुता, संतोष एवं समरसता, आनन्दमयता आदि को भक्ति के फल के रूप में माने हैं। आचार्यों ने भक्ति के अधिकारी के बारे में भी कहा है। नारद आदि के अनुसार दु:संग, माया, ममता, लोकबन्धन, योगक्षेम, चिन्ता, कर्माकर्मफल, द्वन्द्व, वेद-मोह आदि को तजनेवाले भक्ति का अधिकारी है। भक्ति के आगे जाति-धर्म, नर-नारी, पंडित-पामर, ऊँच-नीच जैसे कोई भी भेद-भाव नहीं। केवल हरि भक्ति की ही आवश्यकता है।

संक्षेप में कह जायें तो असली भक्ति आत्म समर्पण एवं आत्म बलिदान द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। अत: भक्ति तत्व सुलभ नहीं, प्रत्युत दुर्लभ है। उसकी सुलभता तुलनापरक है। भक्ति एक दुर्लभ वस्तु है जो भगवद् कृपा या गुरुकृपा अथवा संत समागम से प्राप्त होती है। अधिकांश मानव अपनी ऊपरी भक्ति को ही वास्तविक भक्ति समझकर आत्म प्रवंचना कर रहे हैं। लेकिन भगवान कृष्ण के अनुसार उसमें भी अपनी महिमा निहित है। असली भक्ति के माध्यम से अनेक भक्त गण कैवल्य मोक्ष प्राप्र कर चुके हैं, यह भी हम पहचान कर सकते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1 ऋग्वेद-1-165-9.

2.यजुर्वेद-32-1

3.सामवेद-6-3-13-2

4.मुण्डकोपनिषद्-द्वितीयखण्ड-श्लोक-3

5.श्वेताश्वतर उपनिषद्-6-23.

6.छांदग्योपनिषद्-7-25-2.

7.पद्मपुराण-क्रियायोगसार-1-3.

8.बृहन्नारदीयपुराण-32-29.

9.कूर्मपुराण,उत्तरार्ध-4125.

10.भगवद्गीता-4-11.

11.भगवद्गीता-7-17.

12.श्रीमद् भागवत्-1-2-6.

13.श्रीमद् भगवत्-7-5,23-24.

14.नारद भक्ति सूत्रम-2-6(मलयालम)

15.शाणडिल्य भक्ति सूत्र-1-1-2.

16.मधुसूदन सरस्वती-हरि भक्ति रसामृत सिन्धु-1-3.

17.मधुसूदन सरस्वती-भक्ति रसायन-1-3.

18.श्री शंकराचार्य-विवेकचूडामणि-32.

19.देवी भागवत्-7-37-28.

20.श्रीमध्वाचार्य और वल्लभाचार्य.

21. “भक्ति कण्डाल प्रसादिक्कुम् रघूत्तमन, भक्तियल्लो महाज्ञानमातावेडो।
भक्तियल्लो सतां मोक्षदायिनी,भक्तिहीनन्मार्कु कर्मवुम् निष्फलम्।।”
(अध्यात्म रामायण,युद्धकांड्म,कुम्भकर्ण नीति-पं-2121-2124-

तुञ्चत्तु रामानुजन् एषुत्तच्छन)

22.चैतन्य लीला-परि-2,पृ-10.

23.गरुड पुराण,अ-231.

24.नारद भक्तिसूत्रम-20-23.

25. “ या दोहने वहनने मथनोपलेप, प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ

गायन्ति चैनमनुरुक्तधियोश्रुकण्ठ्यौ, धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयाना:।।”

(श्रीमद् भागवत-10.44.15)

26.भगवद् गीता-9.22.

27.भगवद्गीता-12-17.

28. देवी भागवत्-7.31.

29.भगवद्गीता-3.3

30.देवीभागवत्-7.37.2-3.

31.भागवत् माहात्म्य, अध्याय-1,श्लोक-45.

32.श्रीमद् भागवत-7.5.23.

33.त्रिपाद्विभूतिमहानारायण उपनिषद्, उत्तर काण्ड-5-7.

34.भगवत-12.3.51.

35.विष्णु पुराण-6.12.17.

36.बृहन्नारदीय पुराण-1.51.

37.भागवत-11.14.2.

38.विष्णु पुराण -2.6.43.

39.विष्णु पुराण-2.6.41.

40. श्रीमद् भागवत-11.2.40-41.

41. विष्णु पुराण-3.7.18.

42. श्रीमद् भागवत-7.9, 8.3.

43.भागवत-10.12.32.

44.भागवत-10.80.

45.नारद भक्ति सूत्र-35-43.

46.स्वामी विवेकानन्द-भक्तियोग-पृ.76.

47.नारद भक्ति सूत्र-35-43.

48.नारद भक्तिसूत्र-38.

49.नारद भक्ति सूत्र-30.

50.देवीभागवतम्-7.37.2-3.

51.बृहन्नारदीय पुराण-32.39.

52.भगवद्गीता-3.33.7.

Vanaja K.G “A comparative study of devotional love in sursagar and narayaneeyam” Thesis. Department of Hindi, Govt.Arts and Science College, Meenchanda,Calicut., University of Calicut, 2016.

अध्याय-2

भक्ति का उद्भव और विकास तथा

पूर्व मध्यकालीन भारतीय 'भक्ति' साहित्य

(उत्तर और दक्षिण के)

2.1.1.भक्ति का उद्भव एवं विकास

भक्ति का उद्भव वेद काल से ही माना जा सकता है। ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि में भक्ति के महत्व और उत्तम भक्त के बारे में विशद रूप से वर्णन मिलता है। ऋगवेद में कहते है-“वह उपासनीय, भजनीय, वरणीय प्रभु एक है, पर विद्वान उसे अनेक नामों से पुकारते हैं। अत: इन्द्र, यम, वरुण आदि शब्द अनेक देवताओं के नाम नहीं, प्रत्युत एक ही ईश्वर के अनेक गुण और शक्तियों को प्रकट करनेवाले अनेक नाम है।”

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहु रथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान।

एकं सद्विप्रा: बहुधा वदन्ति अगनिं यमं मातरिश्वान माहु:।।(1)

प्रभु के भक्तवत्सलता के बारे में जो तुलसीदास, सूरदास आदि ने कहा है, यह ऋगवेद में ही हम देख सकते है-

1. मूक होइ बाचाल पंगु चढइ गिरिबर गहन।

जासु कृपाँ सो दयाल द्रबउ सकल कलिमल दहन।।(2)

2. चरण कमल बन्दौ हरि राई। जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै,

अंधे को सब कुछ दरसाई। बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै,

रंक चले सिर छत्र धराई। सूरदास स्वामी करुणामय,

बार-बार बन्दौ तेहि पाई।।(3)

"अभ्युर्णोति यन्नग्नंभिषक्ति यत्तूरम।

प्रेमन्ध: ख्यत् नि:श्रोणोऽभूत।।"(4)

प्रभु नंगे, दीन, हीन व्यक्ति को वस्त्रों से आच्छादित कर देते हैं, व्यथित एवं आतुर प्राणी को भेषज देकर रोगमुक्त कर देते हैं। अंधा उन्हीं के कृपा से देखने लगता है और लँगडा लूला चलने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

उपनिषदों में भी भगवद् भक्ति एवं उपासना के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने प्रभुभक्ति के साथ गुरु भक्ति पर भी बल दिया है।

"यस्यदेवे पराभक्ति: यथादेवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यार्था: प्रकाश्यन्ते महात्मना"।।(5)

परन्तु उपनिषद् युग में ज्ञान को प्रमुखता दी थी।

वैसे हमें यह मानना चाहिए कि भक्ति का प्रथम उत्थान वैदिक युग में ही हुआ। लेकिन वेद काल की हृदय-पावनी भक्ति-धारा, ब्राह्मण काल के याज्ञिक अनुष्ठानों में क्षीण सी हो गई थी। फिर भक्ति का द्वितीय उत्थान परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार श्रीमद् भगवद् गीता में दिखाई पडा। गीता ने वैदिक, हिंसापूर्ण यज्ञपरक, काम्य कर्म के स्थान पर अनासक्ति पूर्ण कर्तव्य कर्म की स्थापना की, तथा निवृत्ति-परायण ज्ञान कांड के स्थान पर प्रवृत्ति-परायण भगवद्-भक्ति को स्थान दिया। साथ ही

"आत्मा के अमरत्व" की इसने उच्च स्वर से घोषण की। गीता, प्रवृत्तिमूला भक्ति को ही महत्व देती है।

1.तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुसर युद्ध्यच।

मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशय:।।(6)

हे अर्जुन! हमेशा (सर्वदा) मुझे स्मरण करते हुए ही युद्ध कर। मन और बुद्धि को मुझपर अर्पण करते हुए ऐसा करने से तू अवश्य मुझे प्राप्त करेगा। (यहाँ युद्ध का मतलब हरेक का कर्म ही है।)

2. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणं।।(7)

हे कौन्तेय! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तपस्या करता है, सब मेरे लिए ही अर्पण कर। तो तेरा दायित्व मैं अपने आप ले लूँगा।

तृतीय उत्थान वाली भक्ति ने दुधारा खड्ग का काम किया। इसने जैन-बौद्धादि धर्मों की अहिंसा, परोपकार, करुणा, शील आदि लोक-कल्याणकारी भावनाओं को यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण धर्म में नवीन रूप से सम्मिलित कर लिया। महाभारत के पृष्ठ के पृष्ठ इन भावनाओं की प्रतिष्ठा करनेवाले उपाख्यानों से भरे पडे है। शौनकादि ऋषि सूत जी से कहते हैं-

ब्रह्मं शैवं वैष्णवं च सारं शाक्तं तथार्हतम् ।

षड्दर्शनानि चोक्तानि स्वभाव नियतानिच।।(8)

(यहाँ अर्हत से जैन, बौद्धादि संप्रदायों की ओर स्पष्ट संकेत है।)

बौद्ध धर्म का भी भक्ति के इस तृतीय उत्थान-काल में संस्कार हुआ। अनीश्वरवादी बौद्धों ने भक्ति के इस रूप के साथ समझौता करके महायान संप्रदाय की स्थापना की। महायान के संस्थापक सिद्धयोगी नागार्जुन थे जो अश्वघोष के शिष्य थे। महायान, योगाचार, मंत्रयान आदि कई बौद्ध संप्रदायों ने मिलकर मञ्जुश्री , अवलोकितेश्वर, मैत्रेय आदि बोधिसत्वों की मूर्तियाँ स्थापित की। इसप्रकार बौद्धों में मूर्तिपूजा का आरंभ हुआ।

भक्ति का चतुर्थ उत्थान गुप्त साम्राज्य के साथ हुआ। उन्होंने भागवत् धर्म को अपनाया। क्यों कि गुप्त साम्राज्य की पताका पर गरुड का चिन्ह अंगित था। गरुड को पुराणों में महाविष्णु का वाहन कहा गया है। गुप्त वंशीय सम्राटों से वेदानुगामी वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान हुआ और भागवत संप्रदाय से संबन्ध रखनेवाली 108 पाँचरात्र संहिताओं का निर्माण हुआ। कुछ लोग श्रीमद् भागवत भी इस युग की रचना मानते हैं। भागवत धर्म का यह प्रधान ग्रन्थ है। भक्तिरस से लबालब भरे हुए इस ग्रन्थ में भागवत धर्म की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। गीता, ज्ञान-कर्म-उपासना का समन्वय करती हुई भगवद् भक्ति का उत्कर्ष स्थापित करती है तो भागवत शुद्ध-रूप से भक्ति मार्ग का ही उपदेश देती है। श्रीमद् भागवत के माहात्म्य प्रकरण में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति की संतान कहा गया है।

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मम।

ज्ञानवैराग्य नामानौ कालयोगेन जरजरौ।।(9)

(मेरा नाम भक्ति है ये ज्ञान एवं वैराग्य मेरे बेटे हैं। दौर्भाग्यवश ये दोनों अब बूढे बन गये हैं।)

36

श्रीमद् भागवत का बाद के साहित्य पर बडा प्रभाव पडा। रामानुज, मध्व, निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ आदि सब आचार्य इस से प्रभावित हुए।इस ग्रन्थ ने भक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया जिसमें वर्ण एवं आश्रम धर्म भी बहते हुए दिखाई दिए। इस ग्रन्थ के 'एकादश स्कन्ध के चतुर्दश अध्याय के 20,21,24,25,26 श्लोकों में भगवान स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि मैं न योग द्वारा, न साख्य (ज्ञान) द्वारा,न स्वाध्याय एवं तप (वानप्रस्थ) के द्वारा और न त्याग (संन्यास) के द्वारा ही प्राप्त होता हूँ। मेरी प्राप्ति का सुलभ साधन तो भक्ति है। ((10) बृहत ब्रह्म संहिता में भी यही भाव है।(11)

"एक निष्ठा से की हुई मेरी भक्ति चांडाल तक को पवित्र कर देती है। जो गद्गद वाणी से द्रवित चित्त हो, कभी रोता हुआ, कभी हँसता हुआ, कभी लज्जा को छोड गाता हुआ और नाचता हुआ मेरी भक्ति में निरत होता है, वह इस निखिल विश्व को पवित्र कर देता है। जैसे अग्नि द्वारा स्वर्ण का मल दूर होकर फूँकने पर अपने रूप में मिल जाता है, उसी प्रकार मेरे भक्तियोग से कर्म विपाक को दूर करता हुआ आत्मा मुझे ही प्राप्त कर लेता है। मेरे पवित्र चरित्रों का श्रवण एवं ध्यान करता हुआ आत्मा जैसे-जैसे शुद्ध होता जाता है, वैसे ही वैसे अंजनांजित आँखों की तरह वह सूक्ष्म वस्तु के दर्शन करने लगता है।"

वैष्णव धर्म के प्राय: सभी आचार्य इस भक्ति मन्दाकिनी में डुबकी लगाकर केवल स्वयं ही पवित्र नहीं हुए, अपितु उन्होंने कोटि-कोटि मनुष्यों को भी कल्याण पथ पर लगा दिया। सूर, तुलसी, प्रभृति सभी भक्त कवियों में भक्ति के इन्हीं सिद्धांतों को हम प्रस्फुटित होते हुए देखते है।

इन कवियों के साथ भक्ति का पंचम उत्थान हुआ। भक्ति का चतुर्थ उत्थान निवृत्ति परक था, पर इस पंचम उत्थान ने जनता में पुन: प्रवृत्ति-परायण वातावरण को जन्म दिया। निवृत्ति ने मानव को जीवन के

37

आशामय पक्ष से उदासीन कर दिया था पर भक्ति के इस नवीन उत्थान में वे फिर लौटकर जीवन का साँस लेने लगे। इस वायु मण्डल में विरक्ति नहीं थी, निराशा नहीं थी, मन का मारना नहीं था, इनके स्थान पर था भगवान को अपने आंगन में नाचते-कूदते-गाते हुए देखना

तथा कंस और रावण जैसे लोक-पीडकों एवं अत्याचारियों को धराधाम से हटाते हुए अनुभव करना।

2.1.2.हिन्दी के (पूर्व) मध्य कालीन साहित्य में भक्ति

भक्ति के पंचम उत्थान में तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का भी असर पडा, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। मुसलमानों का आक्रमण और मुस्लीं शासन का युग प्रारंभ होने से भारतीय जनता पराधीनता की बेडियों से जकडने लगे। एक ओर मुसलमान शासकगण हिन्दुओं के प्रति द्वेष एवं वैर भावना प्रकट करते रहे तो दूसरी ओर इन मुसलमानों के बीच भी सुन्नी, शिया, देशी-विदेशी के भेद-भावों के कारण हमेशा झगडा होता रहा। वैसे साधारण प्रजा- चाहे हिन्दु हो या मुसलमान- की स्थिति अत्यन्त शोचनीय बन पडी। राजपुत गण, खिलजी, तुग्लक, लोधी, मुगल आदि वंशजों के पीडाओं के बाद भी मौका पाकर उठ खडे हुए। वैसे आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हिन्दुओं की यही जीवन्त शक्ति देखने को मिलती है। विपरीत एवं विषम परिस्थितियों में भी इस जाति ने अपना अस्तित्व बनाए रखा। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य जैसे सभी धार्मिक आचार्य मुस्लीं युग की देन है। ये भारतीय आचार्य देश की राजनैतिक परिस्थितियों से हमेशा निर्लिप्त रहे। उनके बाद आये कबीर और तुलसी मूलत: रामानन्द से प्रभावित रहे हैं। जायसी के काव्य पर सूफी संप्रदाय का प्रभाव है और सूर काव्य वल्लभाचार्य का अनुगामी रहा है। इस प्रकार यह भक्ति धारा लौकिक प्रभाव से शून्य रही है। ऐसा प्रतीत होता है

कि हिन्दी का भक्ति साहित्य धर्म-प्रधान देश भारत की परंपरागत, दर्शन प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा का अभिनव रूप है।

2.1.3.भक्ति कालीन साहित्य का वर्गीकरण

भक्ति काल में उपलब्ध समस्त साहित्य का विभिन्न दृष्टियों से वर्गीकरण किया जाये तो उसे निम्न लिखित काव्य रूपों में कर सकते हैं।

2.1.3.1.उपासना-पद्धति की दृष्टि से

भक्ति कालीन प्रमुख साहित्य उपासना-पद्धति की दृष्टि से दो धाराओं में विभक्त है- निर्गुण धारा और सगुण धारा। प्रथम धारा के अन्तर्गत सन्तकाव्य और प्रेमकाव्य निर्मित हुआ और द्वितीय के अन्तर्गत रामकाव्य और कृष्णकाव्य।

2.1.3.2.विषय की दृष्टि से

विषय की दृष्टि से चार प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं-1)सन्तकाव्य, जिसमें सन्तों ने अधिकांश रूप में आपबीती और आंशिक रूप में जगबीती कही है। 2)प्रेमकाव्य, जिसमें सूफियों ने हिन्दु गृहस्थ के रूढिगत कथानकों का आश्रय लेकर इस्लामी साधना का सरल व्याख्या की है। 3) रामकाव्य, जिसमें रामगुण और रामचरित के साथ साथ जातीयता और राष्ट्रीयता का भी अमर सन्देश है। 4)कृष्णकाव्य, जिसमें कृष्ण लीलाओं के साथ साथ आत्म समर्पण की भावना भी निहित है।

2.1.3.3.प्रबन्ध की दृष्टि से

समस्त भक्ति कालीन साहित्य को तीन कोटियों में बाँटा है-

क) कथानकबद्ध साहित्य :

इसके अन्तर्गत सूफियों के प्रेम काव्य तथा रामचरितमानस जैसी रचनाएँ है।

ख)विशुद्ध गेय विष्णुपद:

इन में सन्तों तथा कृष्ण भक्तों ने अन्तर्मुखी स्थितियाँ अपनाकर अपनी हृदय वेदना की गाँठ खोली है।

ग) सूक्तियाँ:- इनके माध्यम से कतिपय सन्तों ने सांसारिक अनुभव की अभिव्यक्ति की है।

2.1.4. निर्गुण भक्ति-काव्य (सन्त काव्य धारा)

निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देने के कारण हिन्दु-मुसलमान दोनों के लिए जो सामान्य भक्ति मार्ग प्रस्तुत किया गया, उसके प्रस्तुत कर्ता सन्त कहलाए। इन्होंने ईश्वर के निराकार रूप की उपासना की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस भक्ति धारा को ज्ञानाश्रयी शाखा कहा है। इस धारा के भक्त एवं प्रवर्तक प्रेम के ढाई अक्षरों के सामने संसार के समस्त ज्ञान को तुच्छ कहा है।

निर्गुण सन्त मत की मूल चेतना का संबन्ध सिद्धों और नाथों से जोडा जाता है और मध्य में किसी ने 'निरंजनी' मत की और किसी ने महाराष्ट्र के 'वारकरी' मत की एक कडी बताई है। कुछ लोग कहते हैं कि संतों की यह निर्गुणोपासना इस्लाम की देन है। लेकिन असली बात यह है कि इस्लाम के बहुत पूर्व ही संत मत प्रचलित थी। जो भी हो, संत लोगों की अनुभूतियाँ सीधे जन-जीवन से जुडी हुई है।

संत कवियों ने एक ही ईश्वर में-जो निराकार निर्गुण, अनिर्वचनीय, पर अनुभव गम्य है- विश्वास किया है। उन्होंने गुरु के महत्व को

स्वीकारा और ईश्वर प्राप्ति केलिए हठयोग पर बल दिया। उन्होंने अवतार वाद का विरोध किया और माया रूपी महाठगिनी से हमेशा सावधान रहने का उपदेश दिया। संत कवियों ने जाति-पाँति एवं बाह्य आडंबरों का विरोध किया। उन्होंने ईश्वर भजन और नाम स्मरण को महत्वपूर्ण माना है। आध्यात्मिक एवं सात्विक जीवन बिताने पर भी उन्होंने तत्कालीन सामाजिक हित पर ध्यान रखे और समाज सुधार के लिए काम भी किया।

इस प्रकार संतों ने अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता के इस युग में ज्ञान और कर्म का मशाल जलाई थी। संतों में सब से प्रमुख महात्मा कबीरदास है। इनके अलावा धर्मदास, रविदास(रैदास), नानकदेव, दादूदयाल, सुन्दरदास, अर्जुनदास, मलूकदास आदि भी संत काव्य धारा के प्रवर्तक थे।

2.1.4.1.कबीरदास

भारतीय चिन्ता तथा साधना के क्षेत्र में कबीर का अद्वितीय स्थान है। निर्गुण चिन्ताधारा का मुख्य प्रवेशद्वार कबीरदास और उनकी वाणी है। कबीरदास जी ने एक नये युग का सूत्रपात किया। उनकी चर्चा करते हुए नाभादास जी कहते है-"कबीर ने भक्ति विमुख धर्म को अधर्म दिखा दिया। ईश्वर भजन के बिना योग, यज्ञ, व्रत, दान आदि तुच्छ है। हिन्दु हो या तुर्क बिना किसी भेद-भाव से कबीर की रमैनी, सबद और साखी का प्रणाम किया।(12)

कबीरदास के जन्म के बारे में विभिन्न मत प्रचलित है। उनके जन्म संबन्धी चर्चा विद्वानों ने(13) विस्तृत रूप से की है। इनका जन्मकाल जेठ सूदी पूर्णिमा सोमवार वि.सं.1456 माना है। जन्म स्थान के बारे में विवाद चलता है। इनके जन्म स्थान का वर्णन करते हुए अनन्तदास कहते है- "काशी

बसै जुलाहा एक। हरि भगतिन की पकरी टेक।.....।(कबीर साहब की परचई)(14)

कबीर स्वयं अपने को काशी का जुलाहा कहते है।(15) कबीर के माता-पिता के बारे में यह किंवदन्ती है कि एक विधवा ब्राह्मणी को स्वामी रामानन्द ने भूल से यह आशिर्वाद दिया कि उसका पुत्र उत्पन्न होगा। उसके फलस्वरूप पुत्र उत्पन्न हुआ और लोकलाज के भय से माता ने नवजात शिशु को लहरतारा के पास परित्याग कर दिया। नीरु-

नीमा नामक जुलाहा दम्पति को वह शिशु मिला और उन्होंने उसका पालन-पोषण किया। (16)

कबीर ने स्वयं अपने गुरु के बारे में कुछ नहीं कहा। लेकिन कुछ लोग 'शेख तकी' को और कुछ लोग रामानन्द को कबीर के गुरु मानते हैं। वास्तव में कबीर पर रामानन्द जी का बहुत अधिक प्रभाव था। उनके अतिरिक्त शंकराचार्य, नाथपंथी साधुओं आदि का भी प्रभाव कबीर पर पडा जैसा देखने को मिलता है।

कबीरदास रूढिवाद के कट्टर विरोधी थे। अपढ होते हुए भी वे बहुश्रुत थे। उनके वचनों में हठयोग तथा वेदान्त की अच्छी झलक मिलती है। कबीर के ईश्वर संबन्धी विचार बहुत ऊँचे हैं। इन पर शांकरवाद का पूरा प्रभाव था और ये जीव-ब्रह्म की पूर्ण एकता में (अहं ब्रह्मास्मी) विश्वास रखते थे।

"जल में कुंभ, कुंभ में जल, बाहर भीतर पानी।

टूटै कुंभ जल जलहि समाना, कह्यौ यह तथ्यौ ग्यानी।।(17)

कबीर की वाणी मे रहस्यवाद भी पर्याप्त मात्रा में दिखलाई देता है। हिन्दु प्रथा के अनुसार उन्होंने जीव को दुलहिन और परमात्मा को

प्रियतम बताया है। वे अपने को 'राम की बहुरिया' कहा करते थे। उपासना में कबीर ने राम की महत्ता को स्वीकार की है। वे निराकार रूप के उपासक थे, और एक ही रूप को सारे संसार में देखते थे-

" साधो,एक रूप सब माहिं।

अपने मन विचार के देखो,कोई दूसरा नाहीं।।"(18)

कबीर ने अपने परमात्मा को अपने आप में देखा है और हठयोग साधना में ब्रह्मांड और परमात्मा को शरीर के भीतर ही पाया है।

कबीर की वाणी 'बीजक' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है। इसके तीन भाग हैं- रमैनी, सबद और साखी। उनकी कविता का चमत्कार काव्य के ऊपरी नियमों से नहीं, वरन् उनके हृदय की सच्चाई और तीव्र अनुभूति से है।

2.1.5.सूफी अथवा प्रेमाश्रयी काव्य धारा

ज्ञानाश्रयी या संत काव्य धारा के संत ज्ञान और भक्ति के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने में विश्वास रखते थे तो सूफी या प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रेम मार्ग को स्वीकारा। उन्होंने रूढिवाद, कर्मकांड, अन्धविश्वास आदि का विरोध किया और मन की पवित्रता पर बल दिया।

भारत में सूफीमत का सूत्रपात बारह वीं शताब्दी में हुआ। सूफीमत का संबन्ध इस्लाम से है। सूफीमत के सिद्धांतों की विवेचना इस संप्रदाय के कवियों ने लोकप्रिय-प्रेम-गाथाओं के माध्यम से की। इस मत का प्रमुख तत्व प्रेमतत्व है। प्रेम के द्वारा ही सारी सृष्टि का रहस्य समझा जा सकता है। प्रेम की पीर से जर्जरित तन ही अपना अस्तित्व सफल करता है। किन्तु प्रेम का मार्ग जितना सुन्दर और आनन्दमय है, उतना ही कंटकाकीर्ण भी। सूफी संप्रदाय

के अनुसार प्रेममार्गी भक्तों को दु:ख दर्द चाहिए। अहंकार नहीं होना चाहिए और क्रोध या ईष्र्या से हमेशा दूर रहनी चाहिए।

सूफी प्रेम साधना एक प्रकार से आध्यात्मिक यात्रा है। इस यात्रा में साधक को कई मंजिलों को पार करना पडता है। उसकी आत्मा जब ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान (मारिफित) प्राप्त कर लेती है तब उसके साथ एकाकार होने में किसी प्रकार का विघ्न नहीं रह जाता।

हिन्दी के सूफी काव्य धारा के प्रवर्तक के रूप में कुतुबन, मंझन, उसमान, मलिक मुहम्मद जायसी और न्यामतखाँ आदि का नाम आते है। इन में प्रमुख मलिक मुहम्मद जायसी है।

2.1.5.1.मलिक मुहम्मद जायसी:-

श्रेष्ठ प्रेममार्गी कवि जायसी का जन्म गाजीपुर में सन् 900 हिजरी माना जाता है। स्वयं उनका कथन है-

"भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी।।"(19)

जायसी की ईश्वर भक्ति के संबन्ध में एक कथा प्रचलित है। जायसी खेती का काम करते थे और दुपहर का खाना खेतों में मंगाकर खाते थे। वे बिना किसी को खिलाये नहीं खाते थे। एक दिन उन्हें खाते समय कोई भी नहीं दिखाई दिया। कुछ समय बाद उन्होंने एक कोढी को देखा और वे उसके साथ भोजन करने लगे। भोजन के एक हिस्से पर उसके कोढ का मवाद चू पडा। उसके मना करने पर भी जायसी उसे खा गये। इसके पश्चात वह कोढी

अन्तर्धान हो गया। इस घटना के बाद जायसी ईश्वर में और भी विश्वास करने लगे। इस घटना का संकेत अघरावट के इस दोहे में मिलता है-

"बूँदहि समुद्र समान, यह अचरच कासौ कहौ।

जो हेरा सो हैरान, मुहम्मद आपुहि आप महाँ।।"(20)

जायसी ने अपनी रचनाओं में दो गुरुओं का उल्लेख किया है। पहले गुरु सैयद अशरफ थे और दूसरे मुईनुद्दीन थे। जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे।

जायसी ने तीन पुस्तकें लिखी हैं- अखरावट, आखिरी कलाम और पद्मावत। अखरावट में ईश्वर, सृष्टि, जीव-ईश्वर प्रेम आदि विषयों पर उन्होंने अपना विचार व्यक्त किया है।

आखिरी कलाम में कयामत का वर्णन है। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मावत' है। इसमें चित्तौड के राजा रतनसेन और सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की पुत्री पद्मावती की प्रेम-कथा का वर्णन है। इसमें दो पक्ष-लोक पक्ष और आध्यात्मिक पक्ष का उल्लेख मिलता है। जायसी ने स्पष्ट कर दिया है कि पद्मावत लौकिक कहानी ही नहीं है, वरन् अन्योक्ति का प्रतिरूप भी है। नायक रतनसेन सच्चा साधक है, पद्मावती परमात्मा का स्वरूप है और हीरामन तोता सद्गुरु है जो प्रेममार्ग से परमात्मा तक पहूँचा देता है।

मुसलमान होते हुए भी जायसी ने हिन्दु कथा को लिया था तथा तत्कालीन हिन्दु समाज, हिन्दुओं के तीर्थस्थान और देवताओं, उनके सामाजिक विश्वासों का विस्तृत वर्णन किया है। वैसे हिन्दु और मुसलमानों में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की। दोनों के हृदय का अजनबीपन मिटाकर एक रागात्मक संबन्ध स्थापित करनेवाले सन्तों में जायसी प्रमुख हैं।

2.1.6.सगुण राम भक्ति धारा

भारत में राम काव्य का विकास वात्मीकी रामायण से होता है। इसके बाद गुप्त साम्राज्य काल में याने ईसा की चार वीं शताब्दी में फिर रामकाव्य का विकास हुआ। हिन्दी में

राम-भक्ति साहित्य का सूत्रपात स्वामी रामानन्द से माना जाता है। उन्होंने संस्कृत के साथ जन साधारण की भाषा में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानन्द जी के शिष्यगण तो भारत में बहुत हुए, परन्तु रामभक्ति का पूर्ण विकास सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसादास की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। वास्तव में रामभक्ति को प्रकट रूप में प्रवाहित करने का श्रेय महाभक्त एवं कवि गोस्वामी तुलसीदास को है।

रामभक्ति धारा के प्रवर्तकों ने अपने इष्टदेव को भगवान महाविष्णु का अवतार, दशरथ नन्दन श्रीरामचन्द्र जी के रूप में देखा। राम के चरित को गाते हुए वे राम भक्ति में तल्लीन हुए। तुलसीदास, स्वामी अग्रदास, नाभादास, हृदयराम आदि रामभक्ति काव्य के प्रवर्तक साहित्यकार थे। इनमें सबसे श्रेष्ठ भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास है।

2.1.6.1.गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास के जीवन संबन्धी विषय में तीन स्रोत विश्वसनीय जान पडते है। 1)नाभादास का भक्तमाल, 2)भक्तमाल पर प्रियादास की टीका और 3)गोसाई गोकुलनाथ कृत दो सौ वैष्णवन् की वार्ता। लेकिन इन रचनाओं में भी तुलसीदास का जन्म कब कहाँ हुआ,इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा है। स्वयं तुलसीदास ने भी आत्मविज्ञापन से विरत होने के कारण अपने ग्रन्थों में कहीं भी अपने जन्मस्थान, माता-पिता, जाति-गोत्र आदि के संबन्ध में उल्लेख नहीं किया। लेकिन विनयपत्रिका और कवितावली में उन्होंने अपने बारे में लेशमात्र संकेत दिया है। यह इस प्रकार है- राम बोला तुलसी को माता-पिता

ने जन्म देकर ही त्याग दिया था और बाल्यावस्था से ही ये दीन की भांति द्वार-द्वार भटककर अपना पेट पालता रहे--

“माता पिता जग जाई तज्यौ,

विधि हूँ न लिखी कछु भागि भलाई।"(कवितावली)(21)

"बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन,

जानत हौं चारि फल चारि ही चनक कौं।"(कवितावली)(22)

राम कौ गुलाम नाम रामबोला राख्यौ राम,

काम यह नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं।"(विनय पत्रिका)(23)

लेकिन दन्त कथाओं के आधार पर तुलसी के पिता सरयू पारिण ब्राह्मण आत्माराम दूबे और माता हुलसी थे। तुलसीदास बारह मास गर्भ में रहे। इनका जन्म अशुभ मूल-नक्षत्र में हुआ। जन्म लेते ही इन्होंने 'राम' नाम बोला। उस समय इनका शरीर पाँच वर्ष के बालक के समान पुष्ट था और मुख में बत्तीस दाँत थे। ऐसे अद्भुत बालक को देख माता-पिता अपने और बालक के अनिष्ट के भय से बालक को पालन केलिए 'चुनियाँ' नामक दासी के पास दिया। जन्म देकर अगले दिन तुलसी की माँ चल बसीं। पाँच वर्ष तक लाड-प्यार से पालन-पोषण कर चुनियाँ ने भी संसार छोड दिया। फिर बालक तुलसी अनाथ होकर द्वार-द्वार भटकने लगा। लोग उसे 'रामबोला' पुकारते थे। अनाथ तुलसी (रामबोला) का श्री नरहर्यानन्द से मिलन हुआ। उन्होंने उसे अपना शिष्य बना दिया और राम मन्त्र की दीक्षा भी दी। तुलसी ने गुरु मुख से राम कथा सुनी। इसके बाद काशी में रहकर शेष सनातन नामक विद्यागुरु से संपूर्ण वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया। अध्ययन के बाद अपने जन्म स्थान लौट आये और उन्होंने 'रत्नावली' से शादी की। रत्नावली से उनका प्रेम इतना प्रगाढ था कि एक दिन

तक भी उसका विरह वे कर नहीं सकते थे। इसी बात पर उस पंडिता पत्नी ने उलाहना की कि-

“अस्थि चर्ममय देह यह,तामें ऐसी प्रीति।

होती जो श्रीराम में,होति न तौ भवभीति।।"(24)

इस पर उन्हें वैराग्य हो गया। फिर वे घर-बार छोडकर निकल पडे, तीर्थाटन करने लगे तथा रामकथा कहने लगे। प्रामाणिक खोज के आधार पर उनका जन्म वि.सं. 1554 की श्रावण शुक्ला सप्तमी को और देहान्त वि.सं.1680 की श्रावण-श्यामा तीज शनिवार को हुआ, माना जाता है।

"पन्द्रह सौ चौअन विषै, कालिन्दी के तीर।

श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी धर्यो शरीर।

संवत सोलह सौ असी असी गंग के तीर।

श्रावण स्यामा तीज-सनि, तुलसी तज्यौ शरीर।"(25)

तुलसी गंगा सा निर्मल, प्रवाहमान एवं तप:पूत व्यक्ति थे। वे रवि-रश्मियों सा भास्वर तथा चन्द्रमा सा शीतल है। गायत्री सा पवित्र, हिमालय सा प्रशस्त एवं प्रोन्नत, अथाह सागर-

सा गंभीर तथा अगम है। ऐसे व्यक्तित्व के अवतार से हिन्दी जगत जीवन्त एवं गरिमामयी बन गयी।

तुलसी असाधारण, उद्भट एवं दिग्गज विद्वान थे। संपूर्ण भारतीय वाङ्मय, विशेषकर रामकथा-साहित्य तथा दर्शन को उन्होंने हृदयंगमित किया हुआ था एवं वह उनके कण्ठाग्र पर भी था। तुलसीदास के सर्व प्रमुख ग्रन्थ 'रामचरितमानस' है। इसके अतिरिक्त उन्होंने विनय पत्रिका, कवितावली, दोहावली, गीतावली, आदि बारह ग्रन्थों की भी रचना की है।

'रामचरित मानस' सचमुच आध्यात्मिकता से संपन्न कृति है। इस विषय में स्वयं कवि ने ही अन्य ग्रन्थों की उपेक्षा की है। 'मानस' के बारे में उनका कहना है कि वह 'श्रुति सम्मत' या 'नानापुराणनिगमागम सम्मत' है। हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है-'रामचरित मानस'। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र-जो दशरथ नन्दन है- का 'चरित वर्णन' इसमें मिलता है। सात कांड वाले 'मानस' के समस्त छन्दों की संख्या लगभग 10,000 है।

2.1.7.सगुण कृष्ण भक्ति धारा

कृष्ण-काव्य के मुख्य आलंबन कृष्ण और उनकी चरित्र-कथा भारतीय संस्कृति का मूल है। श्रीकृष्ण-कथा प्राचीन काल से ही भारत वर्ष में प्रचलित थी। कृष्ण कथा और प्रसंग ने मूर्ति, वास्तु, चित्र, नृत्य, गीत-संगीत आदि सभी भारतीय ललित कलाओं तथा आभूषण, प्रसाधन, व्यंजन-मनोरंजन, आमोद-प्रमोद, धर्म-भक्ति आदि सभी तत्वों को प्रभावित किया। ईसाई वर्ष के आरंभ से गुप्तकाल तक तथा बाद को 15 वीं-16 वीं शताब्दी में यह प्रभाव अत्यंत व्यापक, प्रगाढ एवं लोक व्यापी हो गया।

कृष्ण भक्ति का विकास दक्षिण के आलवार संतों द्वारा ईसा की 5 वीं शती से 9 वीं शती के बीच हुआ। इन आलवार भक्तों ने दक्षिण भारत में कृष्णभक्ति का खूब प्रसार किया। वैष्णव भक्ति विशेषकर कृष्ण भक्ति के कई संप्रदाय धीरे धीरे विकसित हुए। रामानुज, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, मध्व आचार्य जैसे प्रमुख आचार्यों ने क्रमश: श्री संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय या सनक संप्रदाय, विष्णुस्वामी संप्रदाय और ब्राह्म अथवा माध्व संप्रदाय की स्थापना की।

इसके बाद इन आचार्यों के प्रभाव एवं प्रेरणा पाकर भक्ति के अनेक संप्रदाय चैतन्य (गौडीय), राधावल्लभीय, हरिदासी, तथा वल्लभ संप्रदाय (पुष्टि मार्ग) आदि की स्थापना हुई। इसप्रकार भक्ति का, विशेषकर कृष्ण भक्ति का एक सजीव वातावरण समस्त भारत में उत्पन्न हुआ। वैसे मध्य युगीन वातावरण में परम भक्त सूरदास , नन्ददास, परमानन्द दास आदि के काव्य की सरस स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई। संप्रदायों से मुक्त होकर भक्ति में रत मीरा,रसखान,नरोत्तमदास आदि का भी आविर्भाव इस कृष्ण भक्ति धारा में हम देख सकते हैं।

2.1.7.1. चैतन्य अथवा गौडीय संप्रदाय

चैतन्य मत के प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य देव है। उन्होंने समस्त बंगाल एवं उत्तर भारत को भक्ति रसामृत पिला दिया। चैतन्य, वल्लभाचार्य के समकालीन थे। बंगाल के नदिया नामक स्थान में सन् 1485 ई.में इनका जन्म हुआ,ऐसे माना जाता है। बचपन का नाम विश्वंभर था पर बाद में बढने पर उन्होंने गृहस्थी छोड दी और परम वैष्णव भक्त बन गये। तब से ये चैतन्य महाप्रभु जाने जाते हैं। उनके मत में मोक्ष के लिए एक मात्र साधन हरि-स्मरण, हरि-कीर्तन है। हिन्दी प्रदेश में कृष्ण भक्ति के प्रसार में चैतन्य का महत्वपूर्ण योग है। चैतन्य संप्रदाय में रागानुगा भक्ति की महत्ता मान्य हुई। उन्होंने मधुरभाव की भक्ति को ही प्रधानता दी है। चैतन्य संप्रदाय के कवियों में रामराय, भगवानदास, विष्णुदास, किशोरीदास, राधिकानाथ, केशवदास, मधुसूदनदास, माधवदास, जगन्नाथ, चन्द्रगोपाल, गदाधरभट्ट, माधवदासमाधुरी, सूरदास मदनमोहन, भगवतमुदित, वल्लभ रसिक, मनोहर राय, प्रियादास जी आदि उल्लेखनीय हैं।

2.1.7.2.निम्बार्क संप्रदाय

निम्बार्क संप्रदाय को 'सनक संप्रदाय या हंस-संप्रदाय' भी कहते हैं। इस संप्रदायियों का विश्वास है कि इस संप्रदाय का उपदेश हंस भगवान से सनकादियों को , सनकादियों से नारद को और नारद से निम्बार्क को मिला था।

निम्बार्क का पूर्व नाम नियमानन्द था। कहा जाता है कि इन्हें किसी सन्त को भोजन देना था। सूर्यास्त के बाद भोजन करना निम्बार्क की दैनिक चर्या के विरुद्ध था। उन्होंने अपने अतिथि को भोजन देने के लिए सूर्य की गति को रोककर उसे आकाश से हटाकर नीम के पेड पर प्रत्यक्ष करा दिया। इसके बाद उनका नाम निम्बार्क बन पडा। उन्हें सूर्य का अवतार भी माने जाते हैं। वेदान्त पारिजात सौरभ, दशश्लोकी, श्रीकृष्ण-स्तवराज, आदि उनके ग्रन्थ हैं। इस संप्रदाय के अन्य कवियों में श्री भट्ट, हरिव्यास देव, परशुराम देव, रूप रसिक देव, वृन्दावन देव आदि का नाम उल्लेखनीय हैं।

2.1.7.3.राधा वल्लभ संप्रदाय

इस संप्रदाय के प्रचार प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश है। श्री हितहरिवंश जी ने माधुर्य भक्ति को विशेष महत्व दिया। इस संप्रदाय के अधिकांश प्रवर्तक राधा देवी के उपासक थे। रसरंजक राधाकृष्ण प्रेम और परात्पर प्रेम में कोई अन्तर नहीं, यही उनका विश्वास है। इस संप्रदाय के अन्य कवि थे-दामोदर दास(सेवक जी), हरिराम व्यास, चतुर्भुज दास, ध्रुवदास, नेहिनागरी दास, कल्याण पुजारी आदि।

2.1.7.4.हरिदासी अथवा सखी संप्रदाय

स्वामी हरिदास से स्थापित इस संप्रदाय में राधा-कृष्ण की युगल उपासना सखी भाव से करने का उपदेश है। स्वामी हरिदास जी के अलावा सखी संप्रदाय के प्रवर्तकों में जगन्नाथ गोस्वामी, बीठल विपुल, नागरी दास,

सरसदास, बिहारिन दास, बनीठनी जी, महाराज छत्रसाल, अलबेली अली, व्रजवासी दास, हित वृन्दावन दास आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

2.1.7.5.वल्लभ संप्रदाय

इस संप्रदाय का संस्थापक श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य है। उनका जीवन काल वि.सं.1529 से वि.सं.1642 तक माना जाता है। वे संस्कृत साहित्य एवं दर्शन के बडे पंडित थे। विजय नगर साम्राज्य के कृष्णदेव राय के विद्वत् सभा के अनेक पंडितों को परास्त करके उन्होंने 'महाप्रभु' पद प्राप्त किया। अणु भाष्य, सुबोधिनी, पूर्व मीमांसा भाष्य आदि उनकी रचनाएँ हैं।

वल्लभ संप्रदाय के अनुसार भगवान कृष्ण पूर्णानन्द-स्वरूप, पूर्ण-पुरुषोत्तम-परब्रह्म है, सच्चितानन्द स्वरूप है। वे सर्वव्यापी, सर्वशक्त, स्वतंत्र, सर्वज्ञ एवं भेद रहित हैं। श्री वल्लभाचार्य के दार्शनिक तत्व 'शुद्धाद्वैत' और उनकी भक्ति मार्ग 'पुष्टि मार्ग' से जाने जाते है। महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोसाई विट्ठलनाथ जी ने मिलकर वल्लभ संप्रदाय को पोषित करने के लिए पुष्टिमार्ग की स्थापना की। इस पुष्टिमार्ग का 'साहित्य रूप' अष्टछाप से जाने जाते है। इसमें वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जी के शिष्य गण जो भक्त कवि एवं गायक थे - काम करते थे। ये हैं- सूरदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास, कृष्णदास (वल्लभाचार्य के शिष्य), गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुज दास, और नन्द दास(विट्ठलनाथ के शिष्य)।

2.1.8.अष्टछाप के भक्त एवं कवि

हिन्दी में कृष्ण-काव्य का बहुत कुछ श्रेय श्री वल्लभाचार्य को है। उन्होंने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति संप्रदाय की स्थापना की थी, उसका जिन हिन्दी भक्त कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें अष्टछाप के कवि कहा

जाता है। जिन भक्त कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने आशिर्वाद की छाप लगाई थी, वे आठ कवि 'अष्टसखा अथवा अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध है। ये आठों भक्त श्री नाथ जी की नित्य लीलाओं में अन्तरंग सखाओं के रूप में

सदैव उनके साथ रहते थे। गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर में ये आठों सखा सेवा केलिए प्रस्तुत हो गये। ये सभी भक्त अपनी अपनी पारी (बारी) पर श्रीनाथ के मंदिर में कीर्तन,सेवा तथा प्रभुलीला संबन्धी पद रचना करते थे। ये श्रेष्ठ कलाकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। ये हैं-कुंभनदास, परमानन्ददास, सूरदास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुज दास और नन्ददास।

2.1.8.1.कुंभनदास

कुंभनदास का जीवन काल सन् 1468 ईं से सन् 1583 ईं. तक है। "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" के अनुसार उनका जन्म गौरवा क्षत्रिय कुल में हुआ था। कुंभनदास जी विवाहित थे और उनका विशाल परिवार था। गृहस्थ होते हुए भी वे अनासक्त थे और कृष्ण भजन में लीन रहने वाले साधु-वृत्ति के पुरुष थे। उन्होंने सन् 1492 ईं. में महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी। उनके कण्ठ-स्वर से प्रसन्न होकर उन्हें कीर्तन-गान का दायित्व सौंपा गया था। किंवदन्ती है कि किसी गायक ने एक बार उनका कोई सुन्दर पद बादशाह अकबर को सुनाया, जिसे सुनकर वे इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने इस पद के रचयिता से ही पद सुनना चाहा और कुंभनदास जी को सीकरी आने का निमन्त्रण दिया। कुंभनदास विरक्त भाव से सीकरी चले तो गये, लेकिन उन्होंने सम्राट के समक्ष जो पद गाकर सुनाया, वह उनके अनासक्त-भाव का सूचक है।

"भक्तन को कहा सीकरी सो काम।

आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरिनाम।।

जाको देखे दु:ख लागै ताकौ करन परी परनाम।

कुंभनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।।"(26)

पद सुनकर और कुंभनदास का भक्ति-भाव देखकर सम्राट अकबर गद्गद् हो उठे और इनसे कुछ माँगने का अनुरोध किया। इसपर इन्होंने यही इच्छा प्रकट की कि भविष्य में मुझे सीकरी आने का आमन्त्रण मत देना।

कुंभनदास जी की शिक्षा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। वैसे उनके द्वारा रचित स्वतन्त्र ग्रन्थ का भी उल्लेख नहीं मिलता- कुछ पद 'रागकल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर', 'वर्षोत्सव कीर्तन','वसन्तधमार कीर्तन' आदि में संकलित है।उनके पदों में संगीत और लय का सौन्दर्य है, साहित्य का नहीं। श्रीनाथ जी की सांप्रदायिक भक्ति की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। उनकी भाषा साधारण व्रज भाषा है जो गोवर्धन के आस पास बोली जाती थी।

2.1.8.2.परमानन्ददास

अष्टछाप के प्रमुख स्थान प्राप्त परमानन्ददास का जन्म सन् 1493 ई. में कनौज (उत्तर प्रदेश) में एक निर्धन कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। शैशव से ही वे काव्य रचना में प्रवृत्त थे और संगीत का भी उन्हें ज्ञान था। वे गृहस्थ नहीं बने। भक्ति की ओर वे पहले ही उन्मुख थे। उन्होंने दीक्षा ग्रहण करके बाल-लीला संबन्धी पद रचना आरंभ की थी। श्रीकृष्ण के माधुर्य पक्ष की लीलाओं का गान उन्होंने किया है। बाल मनोविज्ञान और अलौकिक श्रीकृष्ण प्रेम की झलक उनके पदों में देखने को मिलता है। संयोग और वियोग पक्ष का वर्णन उन्होंने सफलता से किया है।

2.1.8.3.सूरदास

'अष्टछाप शिरोमणि', महाकवि सूरदास कृष्ण भक्ति काव्य के अन्यतम प्रणेता, 'सूरसागर' के रचयिता और श्रीनाथ जी के मंदिर के प्रधान कीर्तनकार थे। व्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने वाले इस महाकवि ने वात्सल्य और

श्रृंगार भक्ति की जो अपूर्व धारा बहाई है, उससे सारा हिन्दी साहित्य आप्लावित है। 'सूर सूर तुलसी ससि' कहकर तत्कालीन काव्य-रसिकों ने उन्हें साहित्य के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया था। आज भी वे उसी आसन पर विराजमान हैं।

"सूरदास वल्लभीय दर्शन के काव्यात्मक संस्कार हैं; पुष्टिमार्ग के रससिद्ध कवि हैं। एक ओर जहाँ संसार की असारता, लौकिक वैभव की व्यर्थता, व्यक्तिगत दैन्य एवं वैराग्य का संयोजन है, वहाँ दूसरी ओर अनुभूति की तीव्रता, वेदना की सजगता और

भावकल्प का विलक्षण कला-योग है उनका सूरसागर। तुलसी की रामायण 'मानस' है, 'मानसरोवर' है तो सूर का कृष्ण चरित सागर है, महासागर है।"(27)

2.1.8.4.कृष्णदास

कृष्णदास अधिकारी के नाम से विख्यात अष्टछापी भक्त कवि के संबन्ध में "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" नामक ग्रन्थों से ही जानकारी मिलते हैं। उनके अनुसार कृष्णदास 'कुनबी' जाति के थे। कृष्णदास का जन्म सन् 1496 ई. में गुजरात के राजनगर राज्य (अहमदाबाद) के चिलोत्तरा गाँव में हुआ था। इनके पिता गाँव के मुखिया थे। बाल्यावस्था में ही कृष्णदास घर छोडकर ब्रज में आ गये थे। भक्ति के साथ बुद्धि भी होने के कारण वे श्रीनाथ जी के मंदिर में 'अधिकारी' पद पर आसीन हुए। गुजराती और व्रज भाषा में उन्होंने काव्य रचना की थी।

कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक भी थे। उनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, शताधिक फुटकर पद ही उपलब्ध है। कृष्णदास का एक पद एक जनश्रुति के साथ संप्रदाय में प्रसिद्ध है। कहते है कि एक सुन्दर वेश्या बडे सुरीले कण्ठ से गान करती थी। कृष्णदास ने

उसे आगरा से गोवर्धन ले आये और श्रीनाथ जी के चरणों में समर्पित कर दिया। वह वेश्या एक दिन भाव-विभोर होकर कृष्णदास- विरचित एक पद का गायन कर रही थी। पद-गायन समाप्त होते ही उसने प्राण विसर्जित कर दिये। पद इस प्रकार है--

"मो मन गिरिधर छवि पर अटक्यौ।

ललित त्रिभंगी अंगन पर चलि, गयो तहांई ठटक्यौ।

सजल स्याम घन चरननील ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यौ।

'कृष्णदास' कियो प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यौ।।"(28)

कृष्णदास ने अपने पदों में बाल-लीला, राधा-कृष्ण प्रेम प्रसंग, रूप सौन्दर्य आदि के विमोहक चित्र उपस्थित किए हैं।

2.1.8.5.नन्ददास

अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का स्थान काव्य -सौष्ठव और भाषा की

प्रांजलता की दृष्टि से सूरदास के बाद समझना चाहिए। नन्ददास का जीवन काल सन् 1533 ई. से सन् 1586 ई. तक माना जाता है। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के सूकर (सोरो) क्षेत्र के रामपुर गाँव में हुआ था। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास इनके चचेरा भाई थे। नन्ददास ने संस्कृत और संगीत में अभीष्ट दक्षता प्राप्त कर ली थी। पहले वे लौकिक जीवन के प्रति आसक्त रहे। लेकिन जब से गोस्वामी विट्ठल नाथ जी से भेंट हुई और उनसे पुष्टिमार्ग की

दीक्षा ग्रहण की तब से उनकी जीवन-दिशा बिलकुल बदल गयी। लौकिक रागात्मक संबन्धों से हटकर वे सच्चे कृष्ण भक्त हो गये। विट्ठल नाथ के कहने अनुसार वे सूरदास के साथ रहने लगे। सूरदास के आग्रह से वे गृहस्थ

होकर कुछ काल जीवन बिताते रहे। फिर सब छोडकर गोवर्धन लौट आये।उनका अंत मानसी गंगा के तट पर हुआ ऐसा माना जाता है।

नन्ददास बहुमुखी प्रतिभावाले थे। उनसे रचित पन्द्रह ग्रन्थों को देखकर उनका रचना वैविध्य स्पष्ट हो जाता है। ये ग्रन्थ हैं- अनेकार्थ मंजरी, मानमंजरी, रसमंजरी, रूपमंजरी, विरहमंजरी, प्रेम बारहखडी, श्याम सगाई, सुदामा चरित, रुक्मिणी मंगल, भंवरगीत, रासपंचाध्यायी, सिद्धांत पंचाध्यायी, दशमस्कन्ध भाषा, गोवर्धन लीला, और नन्ददास पदावली आदि। नन्ददास ने अपनी रचनाएँ परिमार्जित व्रजभाषा में की है। मधुर और परिचित शब्दों का चयन उनकी निजी विशेषता है। 'भंवरगीत' में उन्होंने सगुण तथा कृष्ण भक्ति की महत्ता को प्रकट किया है। सरस एवं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना में जैसी ललित एवं मोहक पदावली नन्ददास के काव्य में मिलती है,कहीं नहीं मिलती।

2.1.8.6.गोविन्द स्वामी

राजस्थान के भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आंतरी गाँव में जन्मे गोविन्द स्वामी का जीवन काल सन् 1505 ई.से सन्1585 ई. तक माना जाता है। गोविन्द स्वामी गृहस्थ थे और उनकी एक पुत्री भी थी। सांसारिक जीवन से विरक्त होकर ये व्रजमंडल के महावन नामक स्थान में आकर बस गये और वहीं रहकर भजन-कीर्तन में लीन रहते थे। गोविन्द स्वामी शिक्षित एवं संगीतज्ञ थे। गोस्वामी विट्ठल नाथ जी से दीक्षा ग्रहण करके वे अष्टछाप में सम्मिलित हो गये। फिर गोवर्धन में आकर रहने लगे। जहाँ ये रहते थे, वह स्थान "गोविन्द स्वामी की कदमखंडी" नाम से आज भी प्रसिद्ध है। कहा जाता

है कि अकबर के दरबारी कवि तानसेन पद-गायन की शिक्षा ग्रहण करने केलिए उनके पास आया करते थे।

गोविन्द स्वामी द्वारा कोई स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना नहीं की गई है। भजन-कीर्तन के लिए समय-समय पर जो उनसे लिखे गये हैं, उन्हीं का संकलन "गोविन्द स्वामी का पद" नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे पद संख्या 600 माने जाते हैं, किन्तु पुष्टि- संप्रदाय में 252 पद अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके पदों का विषय राधा- कृष्ण की श्रृंगार लीला और बाल-लीला है। उनकी भाषा व्रज है।

2.1.8.7.छीतस्वामी

छीत स्वामी का जीवन काल सन् 1515 ई. से सन् 1585 ई. तक माना जाता है। वे मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, घर में जजमानी और पंडागिरी होती थी। कहा जाता है कि ये बीरबल के पुरोहित थे। यौवन में उद्दंड प्रकृति के होने के कारण लडाई- झगडे केलिए बदनाम थे। कहते है कि गोस्वामी विट्ठल नाथ को चिढाने के लिए एक दिन ये खोटा रुपया और थोथा नारियल लेकर भेंट करने पहूँचे। गोस्वामी जी ने अपनी दिव्य-शक्ति से खोटे रुपये और नारियल को शुद्ध तथा परिपूर्ण बनाकर छीतु चौबे को (उद्दंडता के कारण ये यही नाम से जाने जाते थे।) चमत्कृत कर दिया। फलत: चौबे जी को अपनी शरारत पर आत्मग्लानी का अनुभव हुआ और उन्होंने गोस्वामी जी के चरणों को पकडकर क्षमायाचना की तथा तत्काल पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो गये। कालान्तर में उनकी पद -रचना को देखकर उन्हें अष्टछाप में सम्मिलित कर लिया गया। काव्य और संगीत में उनकी विशेष रुचि थी। छीत स्वामी का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मिलता। कीर्तन के लिए उन्होंने जो स्फुट पद-रचना की थी, "पदावली" के नाम से प्रसिद्ध है। इस में लगभग 200 पद संकलित हैं। उनकी कविता साधारण

कोटि की है, जिसपर भक्ति भाव पूर्णरूप से भरा पडा है। उनके व्रज धाम के प्रति आस्था देखिए-

“अहो! विधना! तो पै अंचरा पसार मांगौ।

जनम-जनम दीजो मोहि याही व्रज वासिनौ।।"(29)

2.1.8.8.चतुर्भुजदास

अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुंभनदास के सबसे छोटे पुत्र चतुर्भुजदास का जन्म सन् 1530 ई.में और देहांत सन् 1585 ई. में हुआ। उनका जन्म स्थान गोवर्धन के पास के जमुनावती गाँव है। चतुर्भुजदास अपने वंश-परंपरागत खेती-बाडी से विमुख होकर भजन-कीर्तन में तल्लीन होते रहे। इससे पिता कुंभनदास पुत्र से प्रसन्न थे। उन्होंने चतुर्भुजदास को स्वयं गान-विद्या की शिक्षा देकर पुष्टिमार्ग की दीक्षा दिलायी थी। शैशव से ही चतुर्भुजदास काव्य-रचना करने लगे थे। उनका भी कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उनके स्फुट पदों का संकलन 'चतुर्भुजदास-कीर्तन-संग्रह,' 'कीर्तनावली,' और 'दान लीला' शीर्षकों में प्रकाशित किया गया है। उनकी रचना में श्रृंगार की छटा विद्यमान है।कृष्ण-जन्म से लेकर गोपी-विरह तक व्रजलीला गान उन्होंने किया है। उनकी भाषा साधारण व्रजभाषा है।

2.1.9.संप्रदाय निरपेक्ष कृष्ण भक्त कवि

भक्ति काल के कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होंने संप्रदाय विशेष से मुक्त होकर राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का स्वतंत्र रूप से वर्णन किया है। इनमें मीराबाई, रसखान और नरोत्तम दास का नाम उल्लेखनीय है।

2.1.9.1.मीराबाई

मीरा का जन्म 'मेडता' के समीपवर्ती गाँव 'कुडकी' में राठौर वंश की मेडतिया शाखा में हुआ था। मीराबाई का जीवन- काल सन् 1504 ई. से सन् 1563 ई. तक माना जाता है। मीरा जब दो वर्ष की थी, माता विहीन हो गई। पिता राव रत्नसिंह हमेशा युद्ध-रत थे। इसलिए मीरा का लालन-पालन राव रत्नसिंह के पिता राव दूदा से हुआ था। राव दूदा परम वैष्णव भक्त थे। उन्हीं की छत्रछाया में रहकर बालिका मीरा के मन में भी गिरिधर गोपाल के प्रति अनन्य आस्था उत्पन्न हुई। मीरा के लिए पारिवारिक वातावरण, समाज में प्रचलित लोकगीत, यदा-कदा राजमहलों में आनेवाले सिद्ध संन्यासियों या रमते जोगियों के भक्तिमय उपदेश ही पाठशाला बने। इसलिए बचपन से ही मीरा के हृदय में भक्ति और वैराग्य की भावना उदित हुई।

मीराबाई का विवाह चितौड के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से सन् 1516 ई. में हुआ। परन्तु विवाह के सात वर्ष बाद भोजराज का स्वर्गवास हो गया, जिससे मीरा के अन्तर्मन में विद्यमान अब तक अप्रकट अन्त:संघर्ष प्रकट रूप से उनके जीवन का अंग बन गया। मीरा अपने को अजर-अमर स्वामी की चिरसुहागिनी मानती थी। इसलिए वे सती नहीं हुई।-

"जग सुहाग मिथ्या री सजनी हांवा हो मिट जासी।

वरन् कर्यां हरि अविनाशी म्हारो काल-व्याल न खासी।।(30)

मीरा सारे के सारे लौकिक बन्धनों से पूर्णत: मुक्त होकर निश्चिन्त भाव से साधु-संगति एवं भक्ति-पूजा में अपना समय व्यतीत करने लगी। राणा सांगा के भाई विक्रमसिंह को मीरा का यह आचरण असह्य लगा। उसने मीरा को अनेक यातनाएँ दी, पर मीरा का प्रभु प्रेम अचल रहा।

60

अन्त में मीराबाई लोकलाज एवं कुल मर्यादा को छोडकर राजमहल से चल निकली और साधु-संगति में रहकर घूमती-फिरी। एक बार मीरा पुष्कर यात्रा से लौटती हुई वृन्दावन चली गयी। वहीं इनकी भक्ति धारा माधुर्योपासना के रस में समाहित हुई। वृन्दावन में गिरिधर गोपाल के गीत गाते-गाते न जाने

कब और कैसे यह आभास हुआ कि उनके नटवर नागर तो कभी के वृन्दावन छोडकर द्वारका जा विराजे हैं। यह आभास होते ही मीरा वहाँ से द्वारका चली गयी। वहीं रणछोड जी के मन्दिर में भगवान की मूर्ति के सम्मुख एकाग्र भाव से भजन -कीर्तन करते हुए मीरा ने शेष जीवन व्यतीत किया।

मीराबाई का काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छ्वास का साकार रूप है। उनकी वृत्ति एकान्तत: और समग्रत: प्रेम-माधुरी में ही रमी है। कृष्ण प्रेम में मतवाली मीरा ने मन ही मन उनके मधुर मिलन के स्वप्न संजोकर तज्जन्य आनन्द की अनेक विध व्यंजना की है, किन्तु उनकी कविता का प्रमुख रस विप्रलंभ श्रृंगार है। उनकी विरह-भावना का कोई ओर-छोर नहीं। प्रेमोन्मादिनी मीरा का एक-एक पद उनके हृदय की इस आकुलता का परिचायक है। यथा :-

बिरहनी बावरी सी भई।

ऊँची चढि अपने भवन में टेरत हाई दई।

ले अँचरा मुख अंसुवन पोंछत उघरे गात सही।

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बिछुरत कछु न कही।।"(31)

'गीतगोविन्द की टीका', 'नरसी जी का मायरा', 'राग सोरठ का पद, 'मलार राग', 'राग गोविन्द', 'सत्यभामानु रूसणं, 'मीरा की गरीबी, रुक्मणीमंगल,

नरसी मेहता की हुण्डी , स्फुट पद आदि मीराबाई की रचनाएँ हैं। मीरा की भाषा राजसथानी मिश्रित व्रज है।

2.1.9.2.रसखान

उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार रसखान का जीवन काल सन्

1533 ई. से सन् 1618 ई. तक माना जाता है। रसखान की रचना 'प्रेम वाटिका' के संकेतानुसार उनका जन्म दिल्ली के एक पठान परिवार में हुआ। लेकिन कुछ काल बाद वे दिल्ली छोडकर गोवर्धन धाम आ पहूँचे। अपने अन्तिम काल रसखान वृन्दावन में ही रहते थे। उनकी समाधि 'महावन' आज भी विद्यमान है।

रसखान को सैयद् अब्दुल गफूर के वंशज माने जाते है। कहा जाता है कि एक बनिये के बेटे के प्रति उनकी आसक्ति बढी, और इससे उन्हें मुक्त कराने के उद्देश्य से कुछ वैष्णव भक्तों ने उनको श्रीकृष्ण की एक तस्वीर दे दी। उस कृष्ण की तस्वीर को लेकर रसखान दिल्ली से व्रज की ओर निकल पडे। वैसे वे श्रीकृष्ण प्रेमी बनकर मन्दिर-मन्दिरों में घूमे-फिरे। अन्त में गोविन्द कुण्ड में भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिया। उस दिव्य दर्शन के बाद रसखान श्रीकृष्ण के लीला गान करने लगे और गोपियों के कृष्ण प्रेम की कल्पना करते हुए उसी भक्ति में तल्लीन होकर जीवन बिताने लगे। रसखान की तीन रचनाओं का उल्लेख मिलते है- जैसे सुजान रसखान, प्रेम वाटिका, और दानलीला आदि। इनके अलावा कुछ स्फुट पद भी उनसे रची हुई है। रसखान का मतलब रस का खजाना है। वास्तव में भक्त कवि रसखान श्रीकृष्ण भक्ति रूपी रस का खजाना ही है। उन्होंने अपने इष्टदेव के प्रेम में और भक्ति में आत्म समर्पण किया है। उनकी भक्ति माधुर्य भक्ति है।

उनका कहना है कि ज्ञान कर्म और उपासना आदि से अहंकार मिटता नहीं। शुद्ध प्रेम ही अहंकार को मिटाकर परम आनन्द प्रदान करता है।-

"दो मन इक होते सुन्यौ पै वह प्रेम न आही।
होई जबै दौ तनुहु इक सोईप्रेम कहाई।।"(32)

(दो शरीर के एक होने से ही प्रेम उत्पन्न होते है, वही प्रेम सच्चा प्रेम है। यहाँ दो शरीर का मतलब अपना शरीर कृष्ण का शरीर और

कृष्ण का शरीर अपना शरीर बन जाना है।)

रसखान अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण का दास एवं अनन्य भक्त है। वे कृष्ण के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को मानते है। उनका कृष्ण परब्रह्म है। रसखान की सिर्फ यही इच्छा है---

"मानुष हो तो वही रसखानी, बसौ व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।

जो पसु हौ तो कहा बसु मेरो चरो, नित, नन्द की धेनु मंचारन।।"(33)

श्रीकृष्ण के बालक रूप का मधुर वर्णन उन्होंने अत्यन्त सरस शैली में किया है। हिन्दी, संस्कृत और फारसी भाषाओं का अध्ययन भी उन्होंने किया है। परन्तु रसखान की काव्य भाषा, शुद्ध, परिमार्जित एवं साहित्यिक व्रज है।

2.1.9.3.नरोत्तम दास

सिर्फ एक ही रचना के बल तथा महत्व से भक्ति कालीन साहित्य में स्थान प्राप्त कवि है श्री नरोत्तम दास। नरोत्तम दास का जीवन काल 'विक्रम संवत सोलह वीं शती' में माना जाता है। उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले

के बाडी गाँव में कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में श्री नरोत्तम दास का जन्म हुआ, ऐसा माना जाता है।

'सुदामा चरित' नामक एक ही खण्ड काव्य लिखकर भक्त कवि नरोत्तम दास भक्ति काव्य जगत में यशस्वी बने। श्रीमद् भागवत् के दशम स्कन्ध के 80-81 अध्यायों के आधार पर लिखे यह खण्ड काव्य अनेक विशेषताओं से युक्त है। श्रीकृष्ण और सुदामा के बीच के प्रेम का वर्णन इसमें दिया गया है। श्रीकृष्ण और सुदामा सान्दीपनी महर्षि के गुरुकुल के सहपाठी थे। श्रीकृष्ण और सुदामा के स्नेह के वर्णन करते हुए नरोत्तम दास ने सखा भाव

की भक्ति का भाव पूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया है। अपने इष्ट देव का विरक्त भाव से भजन करना ही नरोत्तम दास को श्रेयस्कर लगता है।नरोत्तम दास व्रज भाषा में ही 'सुदामा चरित' की रचना की है।

2.2.दक्षिण भारत के भक्ति साहित्य

"उत्पन्नाद्रविडे भक्ति, वृद्धिं कर्नाटके गता।

क्वचित क्वचिन महाराष्ट्रे गुरजरे प्रलयं गता।।"(34)

ऐसा एक प्रसिद्ध श्लोक भागवत माहात्म्य में है। इसके अनुसार भक्ति सिद्धांत की उत्पत्ति द्रविड देश में हुई। कर्नाटक में इसकी वृद्धि याने विकास हुई। महाराष्ट्र में इसका सत्वर विजय हुआ और गुजरात में वह (भक्ति) विलीन भी हुआ। ईसा की छठी शती से लेकर दक्षिण भारत के प्रान्तीय भाषाओं में भक्ति गीत एवं साहित्यिक कृतियाँ रूपायित होने लगी।

द्रविड देश दक्षिण भारत में ईसा की छठी शती से नवीं शती तक के काल शैव-वैष्णव संप्रदाय के माध्यम से भक्ति जन हृदय को उत्तेजित की।

जब से बौद्ध धर्म का अपचय हुआ,याने बौद्ध विहार सब असन्मार्गिक और सुखलोलुप अथवा विषयासक्त भिक्षुओं से भरा पडा, तब से ये साधारण जनों से दूर होने लगे। ऐसी स्थिति में शैव-वैष्णव संप्रदाय के सिद्धों व भक्तों के उपदेश तथा भक्ति गीत तमिल जनता को पुलकित कराने लगे। तिरसठ नायनमारों से शैव धर्म का प्रचार हुआ। वैसे बारह आलवारों से जो वैष्णव सन्त थे, भक्ति धारा अधिक संपुष्ट होने लगा।

2.2.1.तमिल के भक्ति साहित्य

तमिल देश में साधारण जनता तक भक्ति को पहूँचाने का श्रेय नायनमारों (शैव-भक्त) और आलवारों (वैष्णव-भक्त) को है। उन्होंने जन-भाषा तमिल में उद्गार प्रकट किये और भक्ति को सर्व सुलभ बनाकर सभी के लिए ग्राह्य बनाया। इन्हीं के माध्यम से तमिल प्रदेश में भक्ति -धारा प्रवाहित होने लगी।

अप्पय, तिरुज्ञानसंबन्धर, सुन्दरर्, माणिक्य वाचकर, संत तिरुमूलर, कारैक्कल अम्मैयार आदि प्रमुख शैव साहित्य नायक थे। उन्होंने अपने मधुर गीतों के द्वारा जो भक्ति गंगा बहाई थी, उसमें समस्त लोग मज्जित हो गये। शैव-भक्ति साहित्य बारह खण्डों में संकलित है जो "पन्निरु तिरुमुरै" नाम से प्रसिद्ध है।

विशिष्टाद्वैत तथा वैष्णव भक्ति संप्रदाय के इतिहास में तमिल प्रदेश के आलवार वैष्णव भक्त संत कवियों का विशिष्ट स्थान रहा। भक्ति सागर में गोता लगाकर अतल गहराई तक पहूँचनेवाले साधक को आलवार कहते हैं। आलवार भक्तों ने कृष्ण के प्रति दास्य और मधुर भक्ति को प्रश्रय दिया। ये संत भक्ति, ज्ञान, एवं वैराग्यपूर्ण कर्म की प्रबल प्रेरणा देते हैं। आलवार संत संख्या में बारह थे। वे हैं- पोयगै आलवार,

भूतत्तालवार, पेयालवार, तिरुमलिशै आलवार, नम्मालवार, मधुर कवि आलवार, कुलशेखर आलवार, तिरुमंगै आलवार, पेरियालवार, तिरुप्पन आलवार, तोंडरप्पोडि आलवार, आंडाल आदि । इन आलवारों का साहित्य "नालायिरम दिव्य प्रबन्धम के नाम से प्रसिद्ध हैं। आंडाल दक्षिण भारत के "मीरा" के रूप में विख्यात है। आलवार संतों ने सुप्त भक्ति को जगा दिया और देशवासियों के संस्कार और

इतिहास की धारा को बदल डाला। इनका भक्ति अभियान कांचीपुरम से प्रारंभ होकर देश के कोने कोने तक फैल गया।

तमिल प्रदेश के भक्ति आंदोलन को जन-आन्दोलन के रूप में व्यापकता देने में शैव और वैष्णव संप्रदाय का योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने जाति-पांति, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष आदि के भेद-भाव को मिटाकर भक्ति मार्ग को सर्व-जन सुलभ बनाया। इन्होंने घोषित किया कि भगवान की शरण में सब को आश्रय प्राप्त है। ईश्वर एक ही है और वही हम सब के मार्गदर्शक नेता है। इन्हीं सिद्धांतों का प्रचार उनके भक्ति गीतों ने किया था। अब राजप्रसादों के राजा महाराज भी सुबह उठकर मंदिर जाकर जनता के साथ घुल मिलकर ईश्वर प्रार्थना में भाग लेने लगे। यह एक नई क्रांति थी। राजमहलों में चलने वाले कई उत्सव मंदिरों में ईश्वर के लिए होने वाले उत्सवों में परिणत हो गये। मानव-मानव के बीच रहने वाले ऊँच-नीच का भेद-भाव, जाति भेद की दुर्भावना को दूर करने में भी इन संतों ने महत्व पूर्ण भूमिका अदा की।

2.2.2.कर्नाटक के भक्ति साहित्य

कर्नाटक में भक्ति का आविर्भाव बसवेश्वर युग में हुआ। बसवेश्वर का आविर्भाव बारहवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ। शैव संप्रदाय या लिंगायत संप्रदाय के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध संत एवं दार्शनिक बसवेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने भक्ति का उपदेश दिया और इस भक्ति की

साधना में वैदिक कर्म कांड, मूर्ति पूजा, जाति-भेद, अवतार वाद अन्धश्रद्धा आदि को बाधक ठहराया। बसवेश्वर के समकालीन अन्य वीर शैव भक्तों में अल्लम प्रभु, अक्कमहादेवी, चेन्न-बंसव और सिद्धराम आदि प्रमुख हैं।

तेरहवीं शती में कर्नाटक में एक ओर रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्री वैष्णव संप्रदाय का प्रभाव हुआ और दूसरी ओर

उसमें मध्वाचार्य के द्वैतमत की भक्ति की नई लहर चली। मध्वाचार्य के द्वैतवाद में हरि (कृष्ण) को परम सत्य और परम आराध्य ठहराया गया है। जगत् को सत्य माना गया है। सगुण साकार विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की उपासना ही इस मत में सर्वश्रेष्ठ है। अवतारवाद का यह रूप वैष्णव भक्ति का मेरूदण्ड है। मध्वाचार्य ने इसी हरि उपासना का बारहवीं शताब्दी में प्रचार किया और कर्नाटक प्रदेश को नई भक्ति में निमग्न कर दिया।

मध्वाचार्य के शिष्यों ने संस्कृत भाषा के स्थान पर कन्नड भाषा में अपने विचार व्यक्त किये। इनमें नरहरि तीर्थ, रंग विट्ठल नाम से विख्यात लक्ष्मीनारायण तीर्थ, रुद्रभट्ट, श्रीपादराय व्यासराय, पुरन्दरदास, वादिराज, कनकदास, विजयदास, जगन्नाथदास और गिरियम्मा (कवयित्री) आदि प्रसिद्ध है। इन्होंने कन्नड में गीत, भजन, कीर्तन आदि रचकर भक्ति का संदेश कर्नाटक के घर घर में पहूँचाया। रुद्र भट्ट का जगन्नाथ विजय कन्नड का सर्व प्रथम वैष्णव प्रबन्ध काव्य माना जाता है। कुमार व्यास के कन्नड भारत (गदुगिन भारत) और ऐरावत, तथा नरहरि की रचना तोरवेरामायण और तिम्मण्णा की रचना कृष्णराज भारत आदि कन्नड के भक्ति सहित्य में विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ है।

कर्नाटक के वैष्णव भक्त 'हरिदास' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोक-व्यवहार आदि विषयों

में पद रचकर कन्नड साहित्य का भण्डार भरा दिया। इन वैष्णव भक्त कवियों में पुरन्दरदास की रचनायें अधिक लोक-प्रिय हैं। उन्हें भक्ति मार्ग को प्रशस्त करने वाला कवि, संत और वैष्णव भक्त माना जाता है। पुरन्दरदास का समय 16 वीं शताब्दी हैं। संगीत के क्षेत्र में भी इनकी अप्रतिम देन हैं।

संक्षेप में कहा जाय तो कर्नाटक के भक्तों पर मध्वाचार्य के दार्शनिक मत का गहरा प्रभाव था। किन्तु विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण को आराध्य मानने के कारण इनकी भक्ति सगुण, साकार, भगवान की ओर अग्रसर करने वाली ही है और वह वैष्णव भक्ति का एक उत्कृष्ट रूप है।

2.2.3.तेलुगु के भक्ति साहित्य

तेलुगु देश में भक्ति साहित्य श्रीनाथ युग में ही देखने को मिलते हैं। तेलुगु में राम काव्य की समृद्ध परंपरा है। परंतु इनमें भक्ति भाव तो कम प्रतीत होते हैं। सिर्फ कवयित्री मोल्ला की रचना 'मोल्ला रामायणम्' में ही आध्यात्म भाव दिखाई पडते हैं। सन् 1412 से 1480 तक के काल के भक्त कवि वेमन्नयोगी का नाम तेलुगु देश के भक्त कवियों में विशेष उल्लेखनीय है। आन्ध्र प्रदेश में कोई ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जिसकी जिह्वा पर वेमन्न का कोई न कोई छन्द या पद न हो। उनकी प्रसिद्ध रचना है 'सुन्दर शास्त्र'। श्रीनाथ युग के श्रेष्ठ कवि श्रीनाथ से रची गयी 'हरिविलासम' उनकी शिवभक्ति को परिचित कराती है। इसमें शिवलीलाएँ एवं शिवगाथाओं का संग्रह है।

सन् 1420-80 के काल में वारंगल जिले में जीवित बंमेर पोत्तन्न वैष्णव धर्म के अनुयायी एवं भक्त कवि थे। सादा जीवन बिताने वाले पोत्तन्न ने अपनी रचना 'महाभागवत पुराण' को श्रीराम के चरणों में समर्पित किया है। इनकी अन्य कृतियों में 'वीर भद्र विजयम','योगिनी दण्डकम' आदि प्रमुख है। राजाश्रय को घृणा की दृष्टि से ये देखते थे। पोत्तन्न सूरदास

के जैसे कवि थे। निम्बार्क तो तेलुगु देश के भक्त थे। लेकिन उन्होंने अपना जन्म स्थान छोडकर वृन्दावन को अपना निवास स्थान बनाया।

2.2.4.मराठी के भक्ति साहित्य

महाराष्ट्र के भक्ति साहित्य में प्रथम गणनीय संत है श्री रामानन्द। भारत के इतिहास में मध्ययुगीन भक्त कवियों की सृष्टि में और लाखों जन साधारण को प्रभावित करने में सफल हुए कोई अन्य सिद्धयोगी है ही नहीं। भक्ति साहित्य को संपन्न बनाने में नाथ संप्रदाय के कवियों का महत्वपूर्ण योगदान है। उनमें सबसे प्रमुख है श्री गोरखनाथ। 'नाथ' लोग शैव भक्त थे। मराठी भक्ति साहित्य के वैष्णव भक्त कवि के रूप में सबसे प्रसिद्ध है ज्ञानदेव। उन्होंने भक्ति-ज्ञान-योग को समन्वित किया। उनकी प्रसिद्ध रचना है 'ज्ञानेश्वरी' जिसमें गीता की व्याख्या की गई है। उनकी अन्य रचनायें हैं- 'अमृतानुभव और चण्डदेव प्रशस्ती आदि। ज्ञानदेव अद्वैत सिद्धांत के प्रचारक थे।

महाराष्ट्र के परमभक्त कवि थे नामदेव। वे पण्डरी या विट्ठल शाखा के प्रवर्तक थे। नामदेव एक दर्जी थे। उनके संघ में गोरा नामक एक कुम्हार, सांवत नामक टोकरी बनानेवाला, नरहरि नामक एक सुनार, चोखा नामक अछूत, शेन नामक नाई और कानहोपात्रा नामक

नर्तकी थे। जाति-पांति तथा उच्च-नीच के भेद भाव का वहाँ कोई स्थान नहीं था। नामदेव के बाद एकनाथ, तुक्काराम, रामदास,(शिवजी के आत्मीय गुरु) आदि भक्तिकाल के अन्य प्रमुख भक्त एवं कवि थे। कीर्तन के माध्यम से तुक्काराम ने अपनी भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। रामदास का प्रमुख ग्रन्थ है-'दासबोध' जो तत्वज्ञान, योग और कर्मवाद को समन्वित करके रचे गये है।

दक्षिण के महान संत एवं भक्त जैसे शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्द, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य, चैतन्य महाप्रभु,

ज्ञानदेव, नामदेव आदि ने केवल अपने देश में स्थिर रहकर भक्ति का प्रचार नहीं किये। वरन् संपूर्ण भारत के भक्ति प्रचारक एवं प्रवर्तक के रूप में भारतीय जनता के लिए महनीय कार्य भी किये है। इन्हीं के माध्यम से ही भक्ति गंगा दक्षिण से उत्तर की ओर बहकर अनेकों को पवित्र बना दिये है।

2.2.5.केरल के भक्ति साहित्य

केरल के इतिहास में भक्ति के दो प्रवाह रूपायित थे। पहला प्रवाह ईसा की सातवीं, आठवीं और नवीं शती में तथा दूसरा पन्द्रह वीं, सोलह वीं और सत्रह वीं शती में जन्म लिये।(35) श्री शंकराचार्य के जन्म के दो सौ वर्ष पहले ही तमिल प्रदेश में उदित शैव-वैष्णव भक्ति संप्रदाय् का प्रचार-प्रसार केरल में भी फैलने लगे। यह तो बौद्ध-जैन धर्मों की पतित अवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में जन्मे थे। यह प्रवाह नवीं शती तक रहे। इस समय भक्ति का प्रचार-प्रसार भजन-कीर्तन, भाषण, जुलूस आदि के माध्यम से होता रहा। अत: प्रथम भक्ति आन्दोलन व्यापक रूप से जनप्रियता प्राप्त कर सका।

दूसरा उत्थान ईसा की पन्द्रह वीं शती से शुरू हुआ। उस समय के धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक धरातल भक्ति के विकास में प्रमुख रूप से प्रभाव डाला है। ईसा के 1000 से 1102 तक के सौ वर्ष केरल के इतिहास में निर्णायक कार्य किये हैं। धार्मिक असमानतायें और हीन रूप में परिवर्तित वर्ण-व्यवस्था आदि से पीडित जनता में आत्मीय प्रगति तथा धार्मिक संस्कार पैदा करने के उद्देश्य से जन्मे भक्ति आन्दोलन इस प्रवाह में सफल हुए। व्यक्ति को पवित्र करके भक्ति की ओर उन्मुख करना तथा ईश्वर तक पहूँचाने में सहायता देना आदि भक्ति आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य था।

भक्ति का पहला किरण लोक-गीतों में और धार्मिक गीतों में देखने को मिलता है। केरल में सर्प की आराधना व्यापक रूप से हो रही थी। 'पुल्लुव' नामक जाति के लोग सर्पगीत अनुष्ठान के रूप में गाते हैं।

अम्मन कोविल,अय्यन कोविल नाम के (देवी-देवताओं) मन्दिर भी केरल में सब कहीं देखने को मिलते हैं। ये सब द्रविड संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। 'श्री धर्म शास्ता'- जो शबरी पर्वत के देवता है- के बारे में भी अनेक गीत प्रचलित है। श्री धर्मशास्ता जो अय्यप्पन नाम से जाने जाते है, शैव-वैष्णव संयोग का प्रतिरूप है।

2.2.5.1.केरल के भक्त एवं सिद्ध कवि

2.2.5.1.1.जगत् गुरु आदि शंकराचार्य

विद्वानों के अनुसार शंकराचार्य का समय सन् 788 ईं से सन् 820 ईं तक है। उनका जन्म केरल राज्य के कालडी में (एरणाकुलम जिले में) हुआ। उनके पिता का नाम शिवगुरु और माता आर्यांबा थे। शैशव में ही पिता विहीन शंकर का पालन-पोषण माता से हुई। प्रारंभिक विद्या भी शंकर ने अपनी माता से प्राप्त की। बाल्यावस्था में ही संन्यास ग्रहण करके घर छोड दिया। आचार्य गोविन्द पाद को शंकर ने अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया। उनसे शंकर ने सारी विद्यायें ग्रहण की। व्यास रचित ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि वेदान्त ग्रन्थों तथा अनेक शास्त्रों का भी उन्होंने अध्ययन किया। गुरु गोविन्द पाद से ही उन्होंने संन्यास की दीक्षा पायी।

शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् शंकराचार्य ने अपनी भास्वर चेतना तथा ब्रह्मज्ञान के फलस्वरूप वैदिक सनातन हिन्दु धर्म को विघटित होने से बचा लिया। भारत की चारों दिशाओं में उन्होंने चार मठों की संस्थापना की,

जिनका मुख्य लक्ष्य, वेदान्त प्रचार और प्रसार रहा। इन चार मठों के माध्यम से भारत में आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक सामंजस्य एवं ऐक्य संस्थापन का महत्वपूर्ण कार्य संपन्न हुआ। उन्होंने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया। शैवों, वैष्णवों, शाक्तों, बौद्धों, जैनों एवं कापालिकों आदि से शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित किया और उन सब को एक सूत्र में बाँधा।

आचार्य के अद्वैत-सिद्धांत का प्रभाव भारतीय जनता पर अत्यधिक पडा। उन्होंने प्रस्थान-त्रयी पर (उपनिषद्, ब्रह्म- सूत्र, और श्रीमद् भगवत् गीता) विलक्षण भाष्य की

रचना की थी। इतना ही नहीं भजगोविन्दम्, कनकधारा स्तव, आत्मबोध, सौन्दर्य- लहरी, पंचक, अष्टक, आदि कीर्तन साहित्य बाद के भक्ति साहित्य के लिए प्रेरक थे। भाषा तो संस्कृत थी तो भी केरल के हर भक्त को आत्मीय थे, ये भजन-कीर्तन। उन्हें साक्षात् महादेव शंकर का अवतार मानते हैं।

2.2.5.1.2.चीरामन(श्रीरामन)

तुञ्चत् रामानुजन् एषुत्तच्छन के पहले भक्ति मार्ग की ओर कदम रखे एक धार्मिक कवि है चीरामन। वाल्मीकी रामायण तथा कंप रामायण के आधार पर उन्होंने 'राम चरित' नामक एक स्वतन्त्र कृति की रचना की। राम को वीर एवं धर्म संस्थापक के रूप में उन्होंने चित्रित किया है। साथ ही भक्ति संवर्धक केशादिपाद वर्णन (राम के) भी इसमें देखने को मिलता है।

2.2.5.1.3.निरणम कवि

सन् 1400 ई. और सन् 1500 ई. के बीच जीवित रहे तीन कविकुल थे निरणम के नाम से विख्यात कण्णश्श कवि। शंकरन्, माधवन, और रामन इन तीनों को एक ही परिवार के अंग माने जाते हैं। शंकरन

से रचित 'भारत माला', माधवन से रचित 'भाषा भगवत् गीता',और रामन से रचित रामायण (कण्णश्श रामायण) और 'महाभारत आदि भक्ति भाव को उत्कृष्ट रूप से प्रकट कराने- वाली रचनाएँ हैं। उन्होंने अद्वैत भक्ति को ही महत्व दिया। कण्णशशों में सबसे प्रमुख रामन् पणिक्कर है।

2.2.5.1.4.तुञ्चत्तु रामानुजन् एषुत्तच्छन्

केरल के भक्ति आन्दोलन को शक्ति एवं व्यापकता प्रदान करने में तुञ्चत्त् एषुत्तच्छन का प्रमुख स्थान है।‘ आध्यात्मरामायण’, 'भागवतमकिलिप्पाट्टु‘,''हरिनामकीर्तनम’,उत्तररामायणम','ब्रह्मांडपुराणम',' शतमुखरामायणम','चिन्तारत्नम', इरुपत्तिनालु वृत्तम (चौबीस छन्द), कैवल्य नवनीतम आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

एषुत्तच्छन का जीवन काल सन् 1495 ई. से सन् 1575 ई. तक माना जाता है। मलबार के मलप्पुरम जिले के तिरूर नामक स्थान में तृक्कण्डियूर शिव मंदिर के पास उनका जन्म हुआ। बचपन से ही भक्ति, धर्म-बोध, सर्गशक्ति और ज्ञान उनमें प्रखर रूप से दिखाई

पडते थे। चारों वेदों और छह शास्त्रों का अथाह ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था। वे पहले भक्त थे, फिर ज्ञानी और कवि रहे। समाज सुधारक के रूप में भी उनकी गणना करने में कोई गलती नहीं होगी। क्यों कि अपने समाज में प्रचलित जातीय , धार्मिक आदि अनाचारों के विरुद्ध उन्होंने आवाज़ उठायी है। एषुत्तच्छन की अधिकतर रचनाओं में भक्ति की महिमा का वर्णन है। भक्ति के नवों भावों को (नवधा भक्ति) उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा प्रकट किया है। फिर भी नाम स्मरण और अपने इष्टदेव के गुणों का वर्णन आदि में उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा के साथ कार्य किया है। शैव-वैष्णव में कोई भेद- भाव एषुत्तच्छन को नहीं थे। उनके सामने

ये दोनों (शिव और विष्ण) एक ही है। उनकी रचनाओं में द्वैत और अद्वैत दोनों प्रकार के भक्ति भाव प्रकट है। उनका कथन है-" भक्तों की भक्ति में प्रसन्न होकर उन्हें सान्त्वना देने या खुश कराने के लिए निर्गुण परब्रह्म कभी कभी सगुण रूप धारण करते हैं।"

2.2.5.1.5.विल्वमंगलम स्वामियार

'लीला शुक' नाम से ख्याति प्राप्त विल्वमंगलम स्वामियार ईसा की तेरह वीं शती में जीवित भक्त कवि थे। उनकी प्रसिद्ध रचना है -- 'श्रीकृष्ण कर्णामृतम'। कहा जाता है कि उनका इष्टदेव बालकृष्ण, अपने आन्तरिक नेत्रों के ही नहीं बहिर्नेत्रों के आगे भी विद्यमान थे। भगवान श्रीकृष्ण के किशोर रूप वर्णन उन्होंने अत्यन्त मुग्ध भाव से किया है। उन्होंने अपना जीवन अधिकतर गुरुवायूर में ही बिताये थे।

2.2.5.1.6 कुरूरम्मा

विल्वमंगलम के जैसे भगवान कृष्ण को प्रत्यक्ष रूप से दर्शित एक परम भक्त महिला रत्न थी 'कुरूरम्मा'। बचपन में ही विधवा बनी यह महति अपना बाकी जीवन कृष्ण भक्ति में मग्न होकर कीर्तन-भजन, नामस्मरण व्रत निष्ठा आदि से बिताई। उनका जीवन-काल ईसा की सोलह वीं शती के आस पास माना जाता है।एकांत जीवन बिताने वाली कुरूरम्मा के साथ भगवान कृष्ण 'बाल गोपाल' रूप में हमेशा विराजते थे। कुरूरम्मा अपने को माता यशोदा ही मानती थी। उनसे रचित कोई रचना तो उपलब्ध नहीं। बल्की निम्न लिखित एक श्लोक उनका माना जाता है-

“कोमलं कूजयन वेणुम्

श्यामलोयं कुमारक:

वेद वेद्यम् परब्रह्म

भासतां पुरतो मम।”

2.2.5.1.7.पून्तानम् नंपूतिरि

पून्तानम नंपूतिरि का जीवन काल सन् 1547 ई. से सन् 1640 ई. तक माना जाता है। वल्लुवनाडु देश के कीषाट्टूर नामक स्थान के पून्तानम इल्लम (घर) में अपनी पत्नी के घर में वे रहते थे। उनके माता-पिता, बचपन, जन्मगृह आदि के बारे में कोई जानकारी अभी तक नहीं मिला है। वे एषुत्तच्छन और मेलप्पुत्तूर नारायण भट्टतिरि आदि के समकालीन थे। उन्होंने मलयालम भाषा में ही अपनी भक्ति संबन्धी रचनाएँ की हैं। सूरदास के जैसे पून्तानम भी अपना जीवन सिर्फ भक्ति में ही अथवा भक्ति केलिए ही जिया है।

कहा जाता है कि अपने इकलौते बेटे के अन्नप्राशन के दिन सगे-संबन्धियों के साथ उसके रस्मों में व्यस्त रहे थे कि दुर्भाग्यवश उनके बेटे की मृत्यू अन्नप्राशन के पहले ही हुई। इससे व्यथित पून्तानम एकदम वैरागी बन गये और सब छोडकर पुण्य तीर्थों में घूमने-भटकने लगे। उनका मन भक्ति से भर गया। उन्होंने यह सोचकर स्वयं सान्त्वना पायी कि-------

"उण्णिकृष्णन मनस्सिल कलिक्कुंपोल,

उण्णिकल मट्टु वेणमो मक्कलाय्"

(सारांश- जब भगवान बालकृष्ण (कन्हैया) मन में विराजते है तो और कोई पुत्रों (सन्तानों) की क्या ज़रूरत? याने कन्हैया उनके लिए पुत्र ही है। और अन्य पुत्रों की कामना ही व्यर्थ है।)

पून्तानम् नंपूतिरि ने अपने इष्टदेव भगवान श्रीकृष्ण का बाल-किशोर रूप में ही वर्णन किया है। सन्तानगोपालम्, ज्ञानप्पाना, श्रीकृष्ण कर्णामृतम आदि काव्य ग्रन्थों के अलावा अनेक भजन-कीर्तन भी उन्होंने रचा है। उनके और भगवान कृष्ण के संबन्ध में अनेक कथायें प्रचलित है। पून्तानम आदि से अन्त तक पूर्ण भक्त है। उनकी रचनाओं द्वारा अपारभक्ति सागर में डुबकियाँ लेनेवाले एक भक्त का हम दर्शन कर सकते हैं। उनके आनन्द नृत्य, अष्टाक्षर कीर्तन, गोपाल कृष्ण कीर्तन, मुकुन्द कीर्तन आदि गीतों का कीर्तन या श्रवण करने वाले निश्चय

ही परम आनन्द, परम पवित्रता आदि का अनुभव कर सकते हैं। भक्ति, आत्मीयता, आत्म समर्पण, शोक आदि पून्तानम की कृतियों की निजी विशेषता है।

2.2.5.1.8.चेरुश्शेरि नंपूतिरि

कृष्ण भक्ति साहित्य के अन्य उल्लेखनीय नाम है- श्री चेरुश्शेरि नंपूतिरि। उनके जन्म स्थान, काल, असली नाम आदि के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं है। कोलत्तुनाटु राज्य के दरबारी कवि चेरुश्शेरी अपने आश्रयदाता राजा के इच्छानुसार लोरी के सुरीली तान में लिखी रचना है-'कृष्ण गाथा'। भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर लिखी गई इस रचना में भगवान श्रीकृष्ण के जीवन चरित का वर्णन अनन्य भक्ति के साथ किया गया है। यह कृति मलयालम भाषा के कृष्ण भक्ति साहित्य में सबसे अधिक सुन्दर मानी जाती है। चेरुश्शेरी नंपूतिरि की और एक प्रमुख रचना है-'चेरुश्शेरी भारतम'। यह भी गाथा की शैली में लिखी है।

2.2.5.1.9.कुंचन नंपियार

कलक्कत्तु कुंचन नंपियार का जन्म सन् 1705 ई. में "किल्लिक्कुरिश्शि" नामक गाँव में हुआ था। केरल में 'तुल्लल' नामक लोकनाट्य

की शुरुआत कुंचन नंपियार से ही शुरू हुआ है। ईश्वर भक्ति और गुरु भक्ति कुंचन नंपियार में हमेशा विद्यमान थे। 'श्रीकृष्ण चरितम् मणिप्रवालम्', 'भगवद् दूत', 'भागवतम इरुपत्तिनालु वृत्तम', 'पतिन्नालु वृत्तम', 'शिवपुराण', 'विष्णु गीता' आदि उनके प्रमुख काव्य ग्रन्थ हैं। उनकी रचनाओं में भक्ति के साथ समाज-सुधार की उत्कट इच्छा भी प्रकट है।

2.2.5.1.10.रामपुरत्तु वारियर

मलयालम के कृष्ण-भक्त कवियों में रामपुरत्तु वारियर हिन्दी के नरोत्तम दास के समान 'कुचेलवृत्तम' नामक एक सरस खण्ड काव्य लिखकर अमर हो गये है। वारियर का जन्म सन् 1624 ई. में मीनच्चिल तहसील का रामपुरम गाँव में हुआ। जिस प्रकार अपने इष्टदेव एवं सखा श्रीकृष्ण को 'पृथुकम' याने चिउडा देकर अपनी गरीबीपन हमेशा के लिए हटा दिया वैसे रामपुरत्तु वारियर 'कुचेलवृत्तम' (सुदामा चरित्र) नामक खण्ड काव्य लिखकर अपने राजा तिरुवितांकूर मार्ताण्ड वर्मा को समर्पित करके दरिद्रता से मुक्ति पायी। 'कुचेलवृत्तम' में वारियर की सच्ची भक्ति की झलक हम देख सकते हैं। मलयालम के सब से लोकप्रिय काव्य है 'कुचेलवृत्तम वंचिप्पाट्टु'(नौका गान)।

केरल के कृष्ण भक्तों में विल्वमंगलम, पून्तानम, कुरूरम्मा आदि के जैसे एक महान व्यक्तित्व है श्री मेलपुत्तूर नारायण भट्टतिरि। संस्कृत के प्रकांड पंडित भट्टतिरि भक्त एवं ज्ञानी थे। उनके जीवन और उनकी रचनाओं का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

केरल का भक्ति साहित्य मलयालम और संस्कृत की भक्ति काव्य रचनाओं एवं भजन-कीर्तनों से बिलकुल समृद्ध है। शैव-वैष्णव-शक्ति स्वरूप भक्ति का सामंजस्य केरल की भक्ति परक रचनाओं में देखने को

मिलता है। यहाँ के भक्त कवि एक साथ शिव, विष्णु, और शक्ति (देवी) के प्रति भक्ति प्रकट करते हैं। उनकी राय में ये तीनों एक ही है। इस प्रकार इन भक्त कवियों ने केरल के सामाजिक ,धार्मिक,और जातीय क्षेत्रों में समन्वय का कार्य किया है।

2.3.निष्कर्ष

भक्ति का उद्भव वेद काल से ही हुआ है। ऋग्वेद आदि वेदों में भक्ति के महत्व, उत्तम भक्त, ईश्वर आदि के बारे में बताया गया है। उपनिषदों में भी भगवद् भक्ति तथा उपासना के बारे में चर्चा हुई है। भक्ति का प्रथम उत्थान वैदिक युग में ही हुआ, ऐसा मानना उचित होगा। लेकिन ब्राह्मण काल के याज्ञिक अनुष्ठानों में वह क्षीण हुई। फिर द्वितीय उत्थान श्रीमद् भागवत, भगवत् गीता आदि पुराणों में हम देख सकते हैं। भक्ति का तृतीय उत्थान जैन-बौद्धादि धर्मों की अहिंसा, परोपकार, करुणा, शील, आदि लोक-मंगलकारी भावनाओं के रूप में हुआ। चतुर्थ उत्थान गुप्त साम्राज्य के साथ हुआ। भागवत् धर्म के महत्व का उद्घोषण उस समय हुआ है। भक्ति रस से समृद्ध 108 पाँचरात्र संहिताओं का निर्माण इसी समय हुआ। इसके बाद रामानुज, मध्व, निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ, जैसे आचार्यों- जिनपर श्रीमद् भागवत का खूब प्रभाव पडा है- के साथ भक्ति का पंचम उत्थान हुआ। चतुर्थ उत्थान निवृत्ति परक था तो पंचम उत्थान प्रवृत्ति परक था।

उत्तर भारत के (हिन्दी के) पूर्वमध्य काल भक्ति काल नाम से ही जाने जाते हैं। तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक वातावरण भक्ति के विकास केलिए अनुकूल बना। इस काल में ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी जैसी निर्गुण भक्ति धाराएँ तथा राम भक्ति, कृष्ण भक्ति जैसी सगुण भक्ति धाराएँ प्रवाहित हुई। निर्गुण के ज्ञानाश्रयी (संत परंपरा) शाखा में कबीर जैसे भक्त एवं

संतों ने अपनी ज्ञान रूपी भक्ति का प्रचार किया तो प्रेमाश्रयी शाखा (सूफ़ी) के मलिक मुहम्मद जायसी जैसे भक्त कवि भक्ति में प्रेम के महत्व का प्रतिपादन किया। इन दोनों शाखा के भक्त कवियों ने गुरु, ईश्वर, सत्कर्म, सदाचार, साधना आदि के महत्व के बारे में खूब कहा है।

वैसे सगुण के राम भक्त कवियों में तुलसीदास जैसे भक्त राम कथा के माध्यम से भक्ति का ही नहीं वरन् सामाजिक तथा राजनैतिक समन्वय के महत्व का भी वर्णन किया है। तुलसीदास अपना संपूर्ण जीवन इष्टदेव राम के चरित गान करते ही व्यतीत किया। कृष्ण भक्ति शाखा का क्षेत्र अन्य भक्ति शाखा से बढ़कर कुछ विशाल एवं व्यापक है। इसमें चैतन्य संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय, वल्लभ संप्रदाय जैसे संप्रदाय बद्ध कवियों का आविर्भाव हुआ। इन में वल्लभ संप्रदाय तथा उनके अष्टछाप अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिये हैं। स्वामी वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्य थे अष्टछाप के भक्त कवि। वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय भक्ति संप्रदाय का इन्होंने पल्लवन किया है। कुंभन दास, परमानन्द दास, सूरदास, कृष्णदास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुरभुजदास- ये हैं अष्टछाप। इन संप्रदाय बद्ध कवियों के अलावा मीराबाई , रसखान, नरोत्तमदास जैसे संप्रदाय निरपेक्ष कृष्ण भक्त कवियों ने भी अपने साहित्य साधना के माध्यम से कृष्ण भक्ति की पुष्टि की है।

दक्षिण भारत में भक्ति का उदय ईसा की छठी शती से हुई है। भागवत् माहात्म्य के अनुसार द्रविड देश में ही भक्ति की उत्पत्ति हुई है। शैव-वैष्णव संप्रदायों के माध्यम से यहाँ भक्ति धारा अधिकाधिक संपुष्ट हुई। तमिल देश में भक्ति को सर्व जन सुलभ बनाने का श्रेय नायनमारों (शैव भक्त) और आलवारों (वैष्णव भक्त) को है। अप्पय, तिरुज्ञान संबन्धर, माणिक्य

वाचकर, कारैक्कल अम्मैयार आदि तिरसठ शैव भक्त नायनमार थे। वैसे पोयगै आलवार, भूतत्तालवार, नम्मालवार, आंडाल आदि बारह वैष्णव भक्त आलवार भी थे। शैव भक्ति साहित्य "पन्निरु तिरुमुरै" नाम से जाने जाते है तथा वैष्णव भक्तों का साहित्य "नालायिरम दिव्य प्रबन्धम्" के नाम से प्रसिद्ध है। तमिल देश के शैव-वैष्णव भक्तों ने मानव- मानव के बीच रहनेवाले ऊँच-नीच का भेद-भाव, जाति भेद आदि को मिटा देने का परिश्रम भी किया है।

कर्नाटक में बसवेश्वर युग में(बारहवीं शती) भक्ति का आविर्भाव हुआ। इस समय शैव या लिंगायत संप्रदाय का प्रचार था। फिर तेरहवीं शती में रामानुजाचार्य द्वारा वैष्णव संप्रदाय (श्री संप्रदाय के नाम से) स्थापित हुआ। मध्वाचार्य के द्वैतमत, विष्णु के अवतारवाद आदि इस समय की भक्ति की विशेषताएँ हैं। कर्नाटक के वैष्णव भक्त "हरिदास"

के नाम से जाने जाते हैं। इन वैष्णव भक्त कवियों में पुरन्दर दास की ख्याति सबसे बढ़कर है। ये कवि, भक्त, संत तथा संगीतज्ञ थे। हरिदासी भक्त कवियों ने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोक-व्यवहार आदि का प्रचार-प्रसार करके लोक-कल्याण की भावना को बढ़ावा दिया।

तेलुगु साहित्य में श्रीनाथ युग के साथ भक्ति का प्रचार होने लगा। तेलुगु भक्त कवियों में 'वेमन्नयोगी' विशेष उल्लेखनीय है। इनके अलावा श्रीनाथ (शैव भक्त), बंमेर पोत्तन्न आदि भी तेलुगु के भक्त एवं कवियों में प्रमुख है। महाराष्ट्र के भक्ति साहित्य में प्रथम स्थान प्राप्त संत है श्री रामानन्द। लेकिन वे केवल उस देश के ही नहीं बल्कि संपूर्ण भारत के भक्त एवं संत कवि बने रहे। मराठी भक्ति साहित्य को संपन्न बनाने में नाथ संप्रदायी कवियों का योगदान महत्वपूर्ण है। इन में प्रमुख है, श्री गोरखनाथ। ये

शैव भक्त थे। वैष्णव भक्तों में ज्ञानदेव, नामदेव, तुक्काराम आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

केरल में भक्ति के दो प्रवाह हुए हैं। एक तो ईसा के सातवीं से नवीं शती तक के काल में और दूसरा पन्द्रह से सत्रहवीं शती तक के काल में। केरल में भी शैव-वैष्णव संप्रदाय का प्रचार-प्रसार था। प्रथम चरण में भक्ति का प्रचलन सर्पगीत जैसे लोक-गीतों के माध्यम से हुआ है।

केरल के भक्ति साहित्य में संस्कृत और मलयालम दोनों भाषाओं का खूब प्रचार था। चीरामन, निरणम कवि, तुञ्चत्तु रामानुजन एषुत्तच्छन, विल्वमंगलम स्वामियार, कुरूरम्मा, पून्तानम नंपूतिरि, कुंचन नंपियार, रामपुरत्तु वारियर आदि ने मलयालम साहित्य में अपनी भक्ति संबन्धी रचनाएँ की हैं तो जगत् गुरु आदि शंकराचार्य और मेलपुत्तूर नारायण भट्टतिरि ने संस्कृत में ही रचनाएँ की हैं। केरल की भक्ति परक रचनाओं में शैव-वैष्णव-शक्ति स्वरूप भक्ति का सामंजस्य देखने को मिलता है। केरल के भक्त कवियों ने यहाँ के सामाजिक, धार्मिक और जातीय क्षेत्रों में समन्वय भाव फैला दिया।

संक्षेप में कहा जाय तो उत्तर एवं दक्षिण के पूर्वमध्य काल अथवा भक्ति काल ने अनुभूति की गहनता एवं भाव प्रवणता से अत्यन्त प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। विभिन्न प्रकार की भक्ति पद्धति उस युग के जनता को आशान्वित कर दी। साथ ही उन्हें सान्त्वना और तृप्ति भी मिलने के कारण यह भक्ति काल ही बना। भक्ति कालीन साहित्य एक साथ हृदय, मन,और आत्मा को तृप्त करता है। यह काव्य , लोक तथा परलोक का स्पर्श करता है।

कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे उत्तर के भक्त एवं रससिद्ध कवियों तथा आलवारों, हरिदासों, ज्ञानदेव, नामदेव, विष्णु स्वामी,

निंबार्काचार्य, शंकराचार्य, तुञ्चत्तु एषुत्तच्छन पून्तानम, विल्वमंगलम जैसे दक्षिण के भक्त एवं ज्ञानी कवियों और महात्माओं की दिव्यवाणी जो भक्ति- युग में मुखरित हुई है, आज भी मानव मन को शांन्त एवं पवित्र करने वाली है। वह अमृत समान है जिसे पीकर हर आदमी उस परमानन्द संसार में जीवन्त रह सकता है। इतना ही नहीं भक्ति कालीन साहित्य के सुन्दर - सुदृढ कलेवर में भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति-सभ्यता, आचार-विचार सब सुरक्षित है। वेद काल से होकर बहती आयी यह भक्ति धारा पूर्व मध्य कालीन साहित्य व काव्यों के माध्यम से आगे भी भारत भर निर्मल एवं स्वच्छन्द रूप से बहती रहेगी। इन भक्त एवं सिद्ध कवियों ने अपनी असीम प्रेम भक्ति के माध्यम से अपने समय के ही नहीं बाद के जन समाज में भी शांति और आनन्द का भाव भर दिया । प्रेम भक्ति का महत्व उन्होंने लोगों को अनुभव वेद्य करा दिया।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.ऋग्वेद-1.164.46.

2.रामचरितमानस-बालकांड,सो.2.

3.सूरसागर-वन्दन।

4.ऋग्वेद-8.19.2.

5.श्वेताश्वतर उपनिषद्-23.

6.भगवद् गीता-8.7.

7.भगवद्गीता-9.27.

8.वायु पुराण,द्वितीय खंड,अध्याय-42,श्लोक-16

9.श्रीमद् भागवत,माहात्म्य प्रकरण,प्रथम अध्याय,श्लोक-45

10. क) न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।।(श्लोक-20)

ख) भक्त्याहमेकया ग्राह्य: श्रद्धाया त्मा प्रिय: सतां।

भक्ति: पुनातिमन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात् ।।(स्लोक-21)

ग) वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्षणं हसति क्वचिच्च।

विलज्जउद्गायति नृत्यतेच मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।।(श्लोक-24)

घ) यथाग्निना हेममलं जहाति ध्यातं पुन: स्वं भजतेच रूपं।

आत्माच कर्मानुशयं विधुय मद्भक्तियोगेन भजत्यतोमां।।(श्लोक-25)

ङ) यथा यथा त्मा परिमृज्यते सां मद्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानै:।

तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुरयथैवाञ्जन संप्रयुक्तं।।(श्लोक-26)

(श्रीमद् भागवत,एकादश स्कन्ध)

11. कर्माणि दान यज्ञाशच स्वाध्यायो योग एवच।

हरिं बिना न सिद्ध्यंति काम्यानपि मुनीश्वरा।।

(बृहत् ब्रह्म संहिता,चतुर्थ पाद,अध्याय-10,श्लोक -60)

12.श्री भक्तमाल-नाभादास-बंबई भूषण प्रेस, पृ.72.

13.परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संतपरंपरा-पृ.123,174.

14.डाँ.रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।

15 कबीरग्रनथावली-पद-250,270.

16.अहम्मद शाह-दि बीदक आँफ़ कबीर

17.कबीर ग्रन्थावली—पद-

18.कबीर ग्रन्थावली-पद-

19.आखिरी कलाम-जायसी.

20.अखरावट, सोरठा-7.

21. तुलसी ग्रन्थावली-दूसरा खण्ड- कवितावली-पृ.214.

22.कवितावली-पृ.211

23.विनय पत्रिका-पृ.504.

24.माताप्रसाद गुप्त-तुलसी दास।

25.रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ.126.

26.कुंभनदास के पद।

27.डाँ.रामखेलावन पांडेय-हिन्दी साहित्य का नया इतिहास-पृ.99-100.

28.कृष्णदास की पदावली-

29.छीतस्वामी की पदावली-

30.सं.परशुराम चतुर्वेदी-मीरा की पदावली।

31.सं.परशुराम चतुर्वेदी-मीरा की पदावली-प्रेम पीर खण्ड,।

32.सं. श्री.वियोगी हरि-कवि रसखान-प्रेम वाटिका।

33.सं.श्री.वियोगी हरि-कवि रसखान-व्रजमाधुरी सार, पृ.210.

34 श्रीमद् भागवत माहात्म्यम्-1-48-50

35. के.वि. कृष्णय्यर-भक्ति प्रस्थानत्तिन्टे पुनरुज्जीवनम्, भाग दो- पृ.526.

Vanaja K.G “A comparative study of devotional love in sursagar and narayaneeyam” Thesis. Department of Hindi, Govt.Arts and Science College, Meenchanda,Calicut., University of Calicut, 2016.

अध्याय-3

सूरदास और उनका सूरसागर

3.1.1.सूरदास का जीवनवृत्त

सूरदास संसार त्यागी विरक्त भक्त होने के कारण अपने भौतिक जीवन के प्रति उदासीन थे। अतएव उन्होंने अपने संबन्ध में न तो अपनी रचनाओं में स्पष्ट रूप से कुछ अधिक कहा है; और न अपने सहयोगियों तथा अन्य भक्त जनों को ही कुछ विस्तार से बतलाया है। उनकी रचनाओं में अंत:साक्ष्य के रूप में जो थोडे से आत्मकथन मिलते है, वे अस्पष्ट एवं अपूर्ण है। फलत: वे उनके जीवन-वृत्तान्त के सम्यक् कथन में बहुत कम सहायक होते हैं। "सूर का जीवन वृत्त आरंभ से अंत तक भक्ति भवना के अलौकिक रंगों से रंगा हुआ और दिव्य सौरभ की सुगन्ध से सुवासित था। वे ज्ञान-वैराग्य एवं दीनता-विनय की पगडंडियों में होकर पुष्टिमार्गीय 'पोषण'(भगवद् अनुग्रह) के राजमार्ग पर अग्रसर हुए थे। फिर वात्सल्य, सख्य और दाम्पत्य (माधुर्य) की मंजिलों को पार करते हुए वे श्रीकृष्ण के युगल स्वरूप में लीन होने के अपने अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर सके थे।"(1) सूरदास के जीवन-चरित के बारे में वल्लभ संप्रदायी वाङमय ने जो प्रामाणिकता प्रस्तुत की है, वह सर्वोपरि है। सूरदास वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित थे, और उनके जीवन का अधिकांश भाग सर्वश्री वल्लभाचार्यजी तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथजी जैसे उक्त संप्रदाय के प्रारंभिक आचार्यों एवं उनके अनुयायी भक्त जनों के संपर्क में बीता था। अत: वल्लभ संप्रदायी वाङमय के सूर संबन्धी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। उपलब्ध सामग्री के अनुसार सूरदास का जन्म दिल्ली के निकटवर्ती 'सीही' नामक गाँव में एक सारस्वत ब्राह्मण कुल में वि.सं.1535 के वैशाख शुक्ला 5 को हुआ है।

सूरदास जी अन्धे थे, यह सर्वमान्य तथ्य है। 'सूरसागर' की हस्तलिखित एवं मुद्रित प्रतियों में ऐसे अनेक पद है, जिनमें सूरदास के अंधत्व का उल्लेख है। जैसे-

1) 'सूरदास' जो कहा निहारौ, नैननि हू की हानि।

(नागरी प्रचारणी सभा के -135)

2)सूर कूर आंधरौ, हौ द्वार पर्यौ गाऊँ।(ना.प्र.सभा.-166)

3) इहै जिय जानिकै अंध भव त्रास तें ,

सूर कामी-कुटिल सरन आयौ।(ना.प्र.सभा-5)

लेकिन वे जन्मांध थे या बाद में किसी कारणवश अन्धे हो गये थे, इस में शंका एवं विवाद आज भी चलते है। कारण सूरदास जी के महान कृतित्व की संपूर्णता एवं सर्वांगीणता है। सूरदास जी अन्तर्दृष्टि संपन्न महात्मा थे। उन्हें भगवद् कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, जिससे वे जन्मांध होते हुए भी जीवन और जगत् की समस्त गति-विधियों को देखने और उनका यथार्थ तथा यथावत् कथन करने में पूर्णतया समर्थ थे। इसलिए उन्होंने गाया-

"हरि जू, तुमतें कहा न होई?

बोलै गूँग,पंगु गिरि लंघै ,अरु आवै अंधा जग जोई।"(2)

"जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधै को सब कछु दरसाय।"(3)

भगवद्- कृपा प्राप्त भक्त जन एवं ब्रह्मज्ञानी महानुभाव,चाहे चर्मचक्षु रहित ही क्यों न हो ,दृश्य एवं अदृश्य जगत् की समस्त वस्तुओं एवं गति-विधियों को यथार्थ रूप में देखने और उनका यथावत कथन करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। महाभारत के संजय और भागवत के शुकदेव जी इसके पुरातन

प्रमाण है। “भगवान के सच्चे भक्त विश्व के निगूढ़ रहस्यों को भी अपनी दिव्य दृष्टि अनायास गोचर कर सकते हैं। अत: सूर जन्मान्ध थे और उनके अन्धत्व के विषय में अन्य धारणाएँ सार गर्भित नहीं कही जा सकती। उनका नाम भी स्वयं उनके जन्मान्धत्व का परिचायक है। क्यों कि आधुनिक युग में भी जन्मान्ध को प्राय: सूरदास कहते हैं।”(4)

3.1.2.परिवार और बाल्यावस्था

सूरदास की वंश परंपरा और परिवार के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं है। इससे यह जान पडता है कि वे बाल्यावस्था में ही विरक्त होकर घरवालों से छुट हो गये थे। वे जीवन पर्यन्त साधु-संतों एवं भक्त- जनों की मंडली में रहे थे, जहाँ भक्ति-भाव को ही महत्व दिया जाता है।

कहा जाता है कि सूरदास जी के पिता एक निर्धन ग्रामीण ब्राह्मण थे और माता एक सामान्य गृहिणी थी। उनके चार पुत्र थे, जिनमें सूरदास सबसे छोटे थे। सूरदास के जन्म से माता-पिता शोकाकुल हो गये थे। इसका कारण एक तो घर की दरिद्रता और दूसरा सूरदास की जन्मान्धता है। ऐसी स्थिति में उन्हें अपने आत्मीय जनों का सहज स्नेह कभी प्राप्त नहीं हुआ। उनका बचपन अत्यन्त उपेक्षा तथा अपमान के वातावरण में बीतने लगा।

बचपन में ही उन्हें अपनी स्थिति असहनीय हो गई और वे अपने माता-पिता , बन्धु-बान्धवों को छोडकर अकेले घर से चल दिये।

उस समय उनकी ऐसी मनोदशा थी, जिसका संकेत निम्न लिखित पद में मिलता है। यद्यपि यह गोपियों के संबन्ध में कहा गया है ,किन्तु यह सूरदास की तत्कालीन मनोदशा का भी सूचक है---

"विमुख जननि कौ संग न कीजै।

इनके विमुख वचन सुनि रुवननि,दिन-दिन देही छीजै।।

मोकों नेंकु नहीं ये भावत, परबस कौ कहा कीजै।।

धिक इहि घर ,धिक इन गुरुजन कौ,

इनमें नहीं बसीजै।।(5)

जब अन्धे बालक सूरदास अपनी लाठी टेक घर से निकले थे, तब पूर्व संस्कार वश उनके हृदय में विरक्ति तथा भगवद्- भक्ति का उदय हो गया था। वे हरि-नाम-जप करते हुए सीही गाँव के बाहर आ गये। कुछ दूर चलकर एक तालाब के तट के निकटवर्ती पीपल की छाया में विश्राम किया। कहा जाता है कि जिसको और कोई सहारा नहीं, उसका ईश्वर ही साथ देता है। ईश्वर की लीला बडी विचित्र है। यहाँ सूरदास को ईश्वर ने वाक्-सिद्धि का वरदान दिया था। इसी से शकुन-विद्या और काव्य-संगीतादि कलाओं की जन्मजात प्रतिभा प्रतिफलित हुई। सूरदास का कण्ठ-स्वर सुमधुर था और वे शकुन विचार कर जो कुछ कहते थे, वह सत्य होता था।

जब बालक सूरदास तालाब के निकटवर्ती पीपल की छाया में विश्राम कर रहे थे, तब उस गाँव का ज़मीन्दार अपनी खोई हुई दस गायों को ढूँढते हुए वहाँ आ पहूँचे। सूरदास ने शकुन विचार कर उन गायों को मिलने का ठिकाना ज़मींदार को बतलाया। संयोग से वे गायें उसी स्थल पर मिल गई। इस से प्रभावित ज़मींदार सूरदास के लिए पीपल की छाया में एक झोंपडी बनवा दी। सूरदास के रहन-सहन तथा खान-पान की यथोचित व्यवस्था ही नहीं उनकी टहल-चाकरी केलिए एक सेवक भी ज़मींदार ने नियुक्त कर दिया।

धीरे धीरे उस निराश्रित अन्धे बालक को सुखद आश्रय और जीवन-यापन की समस्त सुविधायें प्राप्त हुई थी। उनका मन भक्ति-साधना एवं ज्ञानार्जन में लग गया। सूरदास की शकुन-विद्या तथा गायन के कारण वह स्थल शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गया। वहाँ आने-जाने वाले लोगों में साधु-संत एवं गुणी जन भी होते थे। उनसे वे धर्मोपासना, ज्ञान-विज्ञान, तथा विभिन्न प्रकार की विद्यायें और कलाओं की जानकारी प्राप्त करते थे। इसप्रकार का सुयोग चातुर्मास्य के समय प्राय: मिलता था। सूरदास उससे पूरा लाभ उठाते थे।

सूरदास जी की ख्याति दूर-दूर देश तक फैल गई। उन्हें श्रद्धा, आदर, पुरस्कार सब प्राप्त हुए। उन्हें अनेक शिष्य-सेवक भी हुए। उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। सूरदास 'स्वामिजी' कहे जाने लगे।

इतना सब होते हुए भी उनके मन को शांति नहीं मिली। उनकी जन्मान्धता उन्हें व्याकुलता प्रदान की। वे आर्त बनकर अपने भगवान के प्रति विनय पद गाने लगे। कभी कभी वे भगवान के प्रति व्यंग्य-वचन भी कहने लगते थे। सूरदास की वह आर्त पुकार भगवान श्रीहरि ने सुन ली, और उनकी कृपा से वे दिव्य दृष्टि संपन्न हो गये।

वे जीवन और जगत् की समस्त गति-विधियों को चर्म- चक्षुओंवाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से देखते हुए यथार्थ रूप में उनका कथन एवं गायन करने लगे। उनके उस अलौकिक गुण के कारण सब लोग उन्हें चमत्कारी महात्मा मानते थे।

3.1.3.आत्मज्ञान की प्राप्ति

जब वे 18 वर्ष की हो गई, तब उनका व्यक्तित्व आकर्षक और शारीरिक गठन सुन्दर था। यौवन की उन्माद पूर्ण अवस्था तथा

प्राप्त वैभव आदि के कारण सूरदास मायाजाल में फँस गये। उनमें भक्ति क्षीण होने लगी, और वे विलासिता पूर्ण जीवन यापन की ओर उन्मुख हुए। परन्तु भक्तवत्सल भगवान उन्हें बचा लिया। एक रात को वे सो रहे थे, तब अचानक उनकी आँखें खुल गई (वे जाग पडे)। उनमें आत्म बोध हुआ और अपने लक्ष्य को भूल जाने पर उन्हें घोर मानसिक वेदना होने लगी, और वे अपने कृत्य पर पश्चाताप करने लगे। उस रात फिर वे सो नहीं पाये। प्रात:काल होते ही अपने समस्त वैभव पिता को बुलाकर सौंप दिया। फिर सब कुछ छोडकर एकवस्त्रधारी बन अपनी लाठी लेकर सीही क्षेत्र से चल दिये।

सीही छोडकर सूरदास श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान मथुरा आ पहूँचे। उस तीर्थस्थान में स्थाई रूप से निवास करने को वे आये थे। लेकिन वहाँ की स्थिति उनके लिए बिलकुल प्रतिकूल थी और वे वहाँ से आगरा की ओर चले। मार्ग में कई स्थलों पर वे रुके। लेकिन वे सब अपनी रुचि के अनुकूल ज्ञात नहीं हुए। फिर आगे बढ़े और 'रेणुका तीर्थ' में पहूँचे, और वहाँ के एक स्थल पर उन्होंने डेरा डाला। 'रेणुका तीर्थ' धार्मिक और सामाजिक महत्व का स्थल था। वहाँ के धार्मिक वातावरण सूरदास को अपनी साधना के लिए उपयुक्त ज्ञात हुआ।

रेणुका तीर्थ के निकट यमुना तटवर्ती 'गऊघाट' नामक एकांत एवं रमणीक ऊँचे स्थल को सूरदास ने अपने आवास तथा भजन-ध्यान के लिए चयन किया। यहाँ रहते समय उन्हें धर्म-परायण साधु-संतों और विविध विद्याओं और कलाओं के गुणी जनों से संपर्क करने का सुवर्ण-सुयोग प्राप्त हुआ। वैसे उनकी धर्मनिष्ठा, भक्ति भावना और कला प्रियता की उन्नति हुई। यह भी नहीं उनके मन ,मस्तिष्क और अन्तस्तल में ज्ञान-वैराग्य की प्रबल धारा प्रवाहित हो रही थी। वे दीनता पूर्ण दास्य भाव की ओर अधिकाधिक उन्मुख हो गये। तब भी उनके मन को पूर्ण शांति नहीं मिल सकी थी।

संयोग वश इस जगह पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्य जी से उनकी भेंट हुई,वह उनके जीवन में एक महान मोड लाया भी।

3.1.4.गुरु वल्लभाचार्य से साक्षात्कार

श्री वल्लभाचार्य जी अपनी देशव्यापी यात्राओं के प्रसंग में गउघाट पर आ पहूँचे। सूरदास को उनके आगमन का समाचार मिल गया। वे उनसे भेंट करने को बडे उत्सुक हुए। वहाँ आने पर वल्लभाचार्य जी ने भी सूर के बारे में सुना और उन्हें सूर को देखने और गायन सुनने की इच्छा भी हुई। जब दोनों की भेंट हुई, आचार्य जी ने उनसे कुछ भगवद् यश का गायन करने को कहा, तब सूर ने गायन आरंभ किया। उसमें उन्होंने अतिशय दीनता प्रकट करते हुए भगवान श्रीहरि से अपने उद्धार की आकुलता पूर्ण प्रार्थना की थी-------

"हरि, हौ सब पतितनि कौ नायक।

को करि सकै बराबरि मेरी,और नहीं कोउ लायक ।।

जो प्रभु आजामिल कौं दीन्ही,सो पाटौ लिखि पाऊँ।

तौ विश्वास होइ मन मेरै, औरौ पतित बुलाऊँ।।

....

लीजै वेगि निबेरि तुरत ही,सूर पतित कौ टाँडौ।।"(6)

"प्रभु! हौ सब पतितनि कौ टीकौ।

और पतित सब दिवस चारि के, हौ तौ जन्मत ही कौ।

कोउ न समरध अध करिबे कौ,खैंचि कहत हौं लीकौ।

मरियत लाज 'सूर' पतितनि में मोहु तैं कौ नीकौ।(7)

वल्लभाचार्य जी सूरदास के इन पदों की स्वर लहरी एवं गायन शैली से अत्यधिक प्रभावित हुए; लेकिन उनमें वर्णित अधीरता पूर्ण निराशा की भावना उन्हें पसंद नहीं आया। वे सूर से बोले-"तुम तो सूर (वीर) हो, ऐसे क्यों गिडगिडाते हो? तुम भगवद्-लीला का गान करो। तब सूर ने कहा- मैं भगवद्-लीला नहीं जानता हूँ। यह सुनकर आचार्यजी ने उनसे कहा,-अच्छा, हम तुम्हें समझावेंगे।"

श्री वल्लभाचार्य जी ने सूरदास को अपने पुष्टि मार्गीय भक्ति संप्रदाय में दीक्षित किया। इसके लिए उन्होंने पहले अष्टाक्षर मंत्र द्वारा सूरदास को 'नाम' सुनाया। फिर 'ब्रह्म संबन्ध' के मंत्र द्वारा उनसे 'समर्पण' कराया। इसके बाद श्री आचार्य जी ने भागवत्-दशम स्कन्ध की स्वरचित 'अनुक्रमणिका' के आधार पर सूरदास को श्रीकृष्ण-लीला का मर्म समझाया। उससे उनके हृदय में लीला-तत्व की स्फूर्ति हुई; और उन्हें भगवान कृष्ण की समस्त लीलाओं का आभास होने लगा। फलत: उनके हृदय की व्याकुलता एवं अशांति दूर हो गई; और वे अलौकिक सुख-शांति का अनुभव करने लगे। श्री वल्लभाचार्य जी ने सूरदास को वि.सं.1567 की वैशाख कृ. 11 को सांप्रदायिक दीक्षा दी थी ।

सूरदास ने अपने समस्त शिष्य-सेवकों को भी श्री आचार्य जी से दीक्षा दिला दी थी। श्री वल्लभाचार्य जी ने भागवत् के सार रूप में रचे जाने वाले अपने 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' ग्रन्थ का जो सूक्ष्म ज्ञान सूरदास को कराया था, उससे उनके हृदय में समस्त भागवत के लीला-तत्व की स्फूर्ति होने लगी। फलत: वे श्रीमद् भागवत् के आधार पर पद-रचना कर उनका गायन करने को उत्साहित होने लगी। श्री वल्लभाचार्य के उपदेश से सूरदास की साधना

का रूप ही बदल गया था। तब उन्हें कृष्ण-लीला के सरस पदों की तुलना में अपने पूर्व रचित निराशाजन्य दास्य भाव के पद अत्यन्त नीरस जान पडने लगे।

सूरदास श्री वल्लभाचार्य जी के साथ व्रजभूमि चले गये। वल्लभाचार्य जी ने भागवत के सूक्ष्म तत्व सूरदास को समझा दिया था। उससे अनुप्राणित होकर सूर ने भागवत दशम स्कन्ध की 'सुबोधिनी' के मंगलाचरण वाची श्लोक,--"नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धि शायिनम। लक्ष्मी सहस्र लीलाभि: सेव्यमानम् कलानिधिम्।।" पर आधारित एक पद की तत्काल रचना करते हुए उसे देवगांधार राग में गाकर श्रीवल्लभाचार्य को सुनाया।-----

"चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग।

जहँ भ्रम-निशा होति नहिं कबहु, सोई सायर सुख जोग।।

जहँ श्री सहस्र सहित नित क्रीडत, सोभित 'सूरजदास'।

अब न सुहात विषय-रस छीलर, वा समुद्र की आस।।"(8)

इस पद को सुनकर श्री आचार्य जी बडे प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा कि सूरदास को दशम स्कन्ध का स्फुरण हो गया है, जिससे उनके हृदय में कृष्ण-लीला का अपार सागर उमड पडा है। उन्होंने सूरदास से नन्दालय की लीला का गायन करने को कहा। सूरदास ने गोकुल में रहते हुए वहाँ की भावना के अनुकूल श्रीकृष्ण की शैशव-लीला के कतिपय पदों का गायन किया था।

जब वल्लभाचार्य जी गोकुल से गोवर्धन चले गये तो सूरदास को भी साथ ले गये। वहाँ पर उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा को सुव्यवस्थित एवं उन्नत करने का आयोजन किया। भगवद्-सेवा के प्रमुख

अंग 'कीर्तन' उन्होंने सूरदास को सौंपी। सूरदास प्रात:काल से सायंकाल तक श्रीनाथ जी के मंदिर में उपस्थित रहकर वहाँ की प्राय: सभी झांकियों में कीर्तन करने लगे।

सूरदास के गोवर्धन -आगमन और स्थायी रूप से वहाँ निवास करते समय उनकी उम्र 33 वर्ष थी। अपने जीवन के बाकी 72 वर्ष उन्होंने वहीं रहकर निष्ठा पूर्वक श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा करते रहे थे।

श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा भागवतोक्त 'लीलाक्षीराब्धि' के कारण सूरदास के हृदय में लीला-पुरुषोत्तम की अनंत लीलाओं का अपार सागर उमड पडा था, जिसकी बहुविध

भाव-लहरें उनके पदों के रूप में तरंगित हुई। सूर के हृदयस्थ लीला सागर के कारण श्री आचार्य जी ने उन्हें 'सागर' की उपाधि प्रदान की थी। वे उन्हें 'सूरसागर' कहा करते थे। कालांतर में सूर की रचनाओं को भी 'सूरसागर' कहा जाने लगा।

श्री वल्लभाचार्य जी का तिरोधान जब हुआ तब से सूर को उनका पुत्र विट्ठलनाथ जी के साथ रहने का सुयोग प्राप्त हुआ। विट्ठलनाथ जी अत्यन्त व्यवहार-कुशल, कर्मठ और सूझ-बूझ वाले महानुभाव थे। उन्होंने आचार्य होने के अनन्तर पुष्टिमार्ग का विधि पूर्वक संगठन किया। श्री विट्ठलनाथ जी ने कीर्तन-गान की प्रणाली प्रचलित करने के लिए साहित्य-संगीत निष्णात आठ भक्त जनों की एक कीर्तन -मंडली का गठन किया था। वे 'अष्टछाप' नाम से प्रसिद्ध हुए। सूरदास उस अष्टछाप मंडली के मुखिया थे, अन्य सात लोग- कुंभनदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास, और नन्ददास थे।

सूरदास सहित सभी अष्टछापी महानुभावों की सख्य भावना इतनी प्रगाढ़ थी कि उन्हें अहर्निश श्रीनाथ जी के सान्निध्य का आभास

होता रहता था। वे अनुभव करते थे कि श्रीनाथ सदैव उनके साथ रहकर उनसे वार्तालाप करते है, अनेक प्रकार के खेल खेलते है, हास्य-विनोद करते हैं। सूरदास को अपनी उपासना, भक्ति की अनुपमता, सेवा-भावना की प्रवीणता और साहित्य-संगीत संबन्धी निपुणता के कारण 'अष्टछाप' में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ था। उपासना, भक्ति, सेवा, साहित्य तथा संगीत के क्षेत्रों में अष्टछाप को जो महत्व प्राप्त है, उसका अधिकांश श्रेय सूरदास को है।

सूरदास के पद-गान की प्रसिद्धि दूर दूर तक फैली थी। उस समय के विख्यात गायक भी उनको सुनने के लिए गोवर्धन आते थे। फिर उन्हीं की शैली में गायन करने का प्रयत्न करते थे। एक बार मुगल सम्राट अकबर के सुप्रसिद्ध गायक तानसेन ने सूरदास के एक पद का गायन उन्हीं की शैली में सम्राट के समक्ष किया था। इससे प्रभावित होकर सम्राट को सूरदास से मिलने और उनका गायन सुनने की इच्छा हुई। उसी काल में वे प्रशासनिक दौरा करते हुए मथुरा गये थे। संयोग से उस समय सूरदास मथुरा में ही थे। फलत: सम्राट अकबर ने वहाँ उनका गायन सुना था। उस अवसर पर सूरदास ने 25 चरणों का जो पद गाया था, वह 'सुर-पच्चीसी' नाम से प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त पद को सुनकर सम्राट अकबर अत्यन्त प्रभावित हुए। उस समय सूरदास से सम्राट के गुणगान करने को भी कहा था। किन्तु सूर के मन में भगवान

श्रीकृष्ण के सिवा और किसी को कोई स्थान नहीं था। अतएव उन्होंने अपनी मन स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए एक पद का गायन किया, जो इस प्रकार है---

"नाहिन रह्यौ मन में ठौर।

नंदनंदन अछत, कैसे आनियै उर और।

द्यौस जागत चलत चितवत, सुपन सोवत राति।

हृदै तैं वोह मदन-मूरति, छिन न इत-उत जाति।

कहत कथा अनेक ऊधौ! लोक लोभ दिखाय ।

कहा कहौ, चित्त प्रेम पूरन, घट न सिन्धु समाय।।।

स्याम गात ,सरोज आनन, ललित गति मृदु हास।

'सूर' ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास।।"(9)

सूरदास की मनोदशा सम्राट अकबर ने समझा; लेकिन अन्तिम पंक्ति के संबन्ध में उन्होंने प्रश्न किया - 'सूरदास जी, तुम्हारे नेत्र है नहीं, फिर तम्हें रूप-दर्शन की प्यास किस प्रकार होती है?' सूरदास ने उस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया; किन्तु सम्राट अकबर जैसे गुणग्राही प्रबुद्ध नरेश का स्वत: समाधान हो गया था। सम्राट अकबर ने सूरदास को सम्मानित एवं पुरस्कृत करना चाहा, परन्तु उस सर्वस्व त्यागी निस्पृह महात्मा ने उसे स्वीकार नहीं किया।

3.1.5.सूर की रचनाएँ

सूरदास का महान कृतित्व 'सूरसागर' कहलाता है। इसके अतिरिक्त सूर की कुछ अन्य रचनाएँ भी है, जिनमें सूर-सारावली, और साहित्य लहरी प्रमुख है। सारावली की रचना बृहत होली-गान के रूप में पुष्टि-मार्गीय भक्ति-सिद्धांत एवं सेवा-तत्व के निरूपणार्थ हुई है। अतएव यह एक सैद्धांतिक ग्रन्थ है। इसके प्रणयन की प्रेरणा सूर को श्री वल्लभाचार्य जी कृत 'पुरुषोत्तम- सहस्रनाम' से हुई थी। 'साहित्य-लहरी' दृष्टकूट पदों की अत्यन्त दुर्बोध रचना है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण की श्रृंगार-लीलाओं का काव्य -शास्त्रोक्त

कथन किया गया है। लीला-रस के अधिकारी महानुभाव ही इसका वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकें और अनधिकारी व्यक्ति इससे वंचित रहें; इसलिए इसे दृष्टकूट पदों की दुर्बोध शैली में रचा गया है। इस प्रकार की जटिल रचना करने में सूरदास को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

"सूरदास ने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया था कि ज्ञान की सार्थकता भक्ति में है और भक्ति को रसमय बनाने के लिए काव्य का आश्रय अनिवार्य है; तथा काव्य की उपादेयता उसके संगीतमय होकर सार्वजनिक होने में है। फलत: उन्होंने अपनी वैराग्यमयी ज्ञान साधना को सगुण भक्ति का रूप दिया, भक्ति को सरस काव्य का कलेवर प्रदान किया और काव्य को श्रुति मधुर संगीत के आवरण में सहृदय-संवेद्य बनाया। यही कारण है कि जन-मानस को विमुग्ध करने वाला उनका काव्य 'भक्ति का नवनीत' बनकर लोकप्रिय हुआ। उनके इस भक्ति नवनीत में भवत्रस्त विपन्न जन को शांति प्रदान करने की विलक्षण शक्ति है। सूर के गेय पदों का गान निश्चय ही भक्तजन को अपने आराध्य श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं में लीन करने की अद्भुत शक्ति रखता है। सूर के काव्य साहित्य से यह भी सिद्ध होता है कि जो ज्ञान का विषय है, वही भक्ति का है, और वही आध्यात्म का है।" (11)

3.1.6.अन्तिम काल

सूरदास मूल रूप में एक निष्ठावान भक्त थे। काव्य और संगीत उनकी भक्ति भावना की अभिव्यक्ति के साधन थे। अपने सुदीर्घजीवन-काल में वे भक्ति-पथ पर निरंतर अग्रसर रहे थे। फलत: उनकी भक्ति भावना का उत्तरोत्तर विकास होता गया था। आरंभ में उनकी भक्ति दास्य भाव की थी। जब वे वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हो गये, तब वे क्रमश: वात्सल्य, सख्य, और दाम्पत्य भावों में लीन रहे थे। अपने अन्तिम काल में वे

अधिकतर राधा-भाव में तल्लीन रहा करते थे। श्रीनाथ जी का कीर्तन करते समय उनकी स्थिति भाव- समाधि की सी हो जाती थी।

सूरदास कृत विशाल पद साहित्य और पुष्टिमार्गीय वाङमय से ज्ञात होता है कि सूरदास ने बहुत बडी आयु प्राप्त की थी; और दीर्घ काल तक इस भूतल पर उपस्थित रहे थे। उनकी रचनाओं के अन्त:साक्ष्य से इसकी पुष्टि होती है। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, जब सूरदास को भक्ति-साधना और कीर्तन -सेवा करते हुए बहुत काल हो गया; तब अन्तत: उनके महाप्रयाण का समय आया। एक दिन जब वे अपने नियमानुसार श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन करने को गये, तब 'मंगला' की झाँकी के उपरान्त उन्हें अकस्मात अपने देहावसान का आभास होने लगा। फलत: वे अपने नियम के विरुद्ध श्रीनाथ जी की

मंगला-आरती के अनन्तर ही अपने निवास-स्थल परालौसी-चन्द्रसरोवर को चले गये। वहाँ पहूँचकर उन्होंने श्रीनाथ जी की ध्वजा को भक्ति-भाव से प्रणाम किया; और उसी की ओर मुख कर चबूतरे पर लेट गये। तत्पश्चात उन्होंने समस्त लौकिक विषयों से अपने मन को हटा लिया ; और वे एकाग्र चित्त से श्रीनाथ जी, आचार्य जी, और गोसाईजी का ध्यान करते हुए अपने महाप्रयाण की प्रतीक्षा करने लगे।

गो.विट्ठलनाथजी जब श्रीनाथजी के मंदिर पहूँचे तो कीर्तन मंडली में सूरदास को नहीं दिखाई पडा। अपने सेवकों से पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि सूरदास जी सब वैष्णवों से विदा माँगकर परालौसी की ओर चले गये हैं। गोसाई जी ने जान लिया कि सूरदास जी के देहावसान का समय आ गया है। समस्त वैष्णवों से उन्होंने कहा कि सूर के पास जाकर उनसे कुछ लेना है तो ले लो। उनके जाने का समय आया है।

समस्त भक्तजन सूरदास जी का अन्तिम दर्शन और उपदेश प्राप्त करने केलिए परालौसी पहूँचे। स्वयं विट्ठलनाथजी भी श्रीनाथजी के राजभोग- आरती के बाद वहाँ पहूँच गये। उन्होंने सूरदास जी का हाथ पकडकर कहा--"सूरदास जी कैसे हो?" गोसाई जी के स्पर्श और शब्द से सूरदास की चेतना जागृत हुई; उन्होंने नेत्र खोल दिये। फिर गोसाई जी को प्रणाम करते हुए कहा- "मैं तो आप की ही प्रतीक्षा कर रहा था।" फिर सूरदास राधा- भाव में रसमग्न हो गये। श्री विट्ठलनाथजी ने उनसे पूछा-"सूरदास जी! इस समय तुम्हारे चित्त की वृत्ति कहाँ लगी है? इसके उत्तर में उन्होंने 'राग विहागरी' में एक पद गुनगुनाया--------

"बलि-बलि जाऊँ कुँवारि राधिका, नंद सुवन जासों रति मानी।

वै अति चतुर तू चतुर-सिरोमनि, प्रीति करि कैसै रहि छानि।।

....."।(10)

इसके बाद राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप का ध्यान करते हुए वे भावावेश में समाधिस्थ हो गये। उसी अलौकिक दिव्यानन्द की अवस्था में उन्होंने पंच भौतिक शरीर को छोडा और निकुंज-लीला का रसास्वादन करने को वे महाप्रस्थान कर गये। वि.सं.1640 के माघ शुक्ला 2 (दो) में सूरदास का देहावसान हुआ । उस समय उनकी आयू 105 वर्ष की थी।

3.2.सूरसागर

सूरसागर, व्रजभाषा में महाकवि सूरदास द्वारा रचे गये कीर्तनों- पदों का एक सुन्दर संकलन है जो शब्दार्थ की दृष्टि से उपयुक्त एवं आदरणीय है। यह सूरदास की एक प्रामाणिक रचना है। श्रीमद् भागवत की भाँति सूरसागर की कथावस्तु भी द्वादश स्कन्धों में विभक्त है। स्वयं कवि ने ही इसमें भागवत के अनुसार कथा-वर्णन करने की सूचना दी है। इस द्वादश स्कन्धात्मक सूरसागर का कथा क्रम इस प्रकार है---------

3.2.1.प्रथम स्कन्ध

सूरसागर का आरंभ विधिवत मंगलाचरण के साथ होता है। फिर विनय-पदों की रचना की है। इसके पश्चात भक्ति की सरस व्याख्या, भागवत निर्माण का प्रयोजन, शुक उत्पत्ति, व्यास अवतार, संक्षिप्त महाभारत कथा, सूत-शौनक-संवाद, भीष्म-प्रतिज्ञा, भीष्म-देह-त्याग, कृष्ण-द्वारिका गमन, युधिष्ठिर वैराग्य, पांडवों का हिमालय गमन, परीक्षित् जन्म, ऋषि शाप, कलियुग को दण्ड इत्यादि है।

पूरे स्कन्ध की रचना भक्ति के माहात्म्य के ही लिए हुई जान पडती है। भागवत में दिए हुए अवतारों की गणना तथा भागवत-धर्म के विस्तार आदि सूरसागर में नहीं हैं।

3.2.2.द्वितीय स्कन्ध

सृष्टि की उत्पत्ति, विराट् पुरुष का वर्णन, चौबीस अवतारों की कथा, ब्रह्माजी की उत्पत्ति, भागवत् चार श्लोक महिमा आदि

वर्णन इस स्कन्ध में दिया गया है। साथ ही इस स्कन्ध के प्रारंभ में भक्ति और सत्संग की महिमा, नाम महिमा, भक्ति साधन, आत्मज्ञान, भगवान के विराट रूप में भारती का भी यत्किंचित उल्लेख है।

3.2.3.तृतीय स्कन्ध

इस स्कन्ध के प्रारंभ में शुकदेव जी का उपदेश है। फिर उद्धव-विदुर-संवाद, विदुर को मैत्रेयमुनि द्वारा बताये गये ज्ञान की प्राप्ति, दक्ष प्रजापति, स्वयंभू मनु तथा सप्तर्षियों की उत्पत्ति, देवासुर जन्म, बारह अवतार वर्णन, कर्दम-देवहूति विवाह, कपिलमुनि का अवतार, देवहूति का कपिल मुनि से भक्ति संबन्धी प्रश्न, भक्ति महिमा तथा देवहूति -हरि-पद प्राप्ति आदि का उल्लेख है।

3.2.4.चतुर्थ स्कन्ध

इस स्कन्ध का आरंभ दत्तात्रेय अवतार से होता है। यज्ञ पुरुष अवतार, पार्वती विवाह, ध्रुव कथा, पृथु अवतार, पुरंजन आख्यान आदि का वर्णन भी इस में दिया गया है। साथ ही गुरु महिमा और ज्ञान की महत्ता का भी वर्णन है।

3.2.5.पंचम स्कन्ध

ऋषभ देव अवतार, जडभरत की कथा, रहूगण संवाद आदि वर्णन इस स्कन्ध में है। यह स्कन्ध सूरसागर के सबसे छोटा स्कन्ध है।

3.2.6.षष्ठ स्कन्ध

इस में अजामिल उद्धार, बृहस्पति-अवतार-कथन, वृत्रासुर- वध, इन्द्र का सिंहासन से च्युत होना, गुरु महिमा, गुरु कृपा से इन्द्र को पुन: सिंहासन प्राप्ति तथा अहल्या की कथा आदि वर्णन हुआ है।

3.2.7.सप्तम स्कन्ध

इस स्कन्ध में तीन कथाएँ दी गयी है। पहली कथा नृसिंह-अवतार की है। दूसरी 'त्रिपुर-वध' की और तीसरी नारद उत्पत्ति की कथा है।

3.2.8.अष्टम स्कन्ध

इसमें गजेन्द्र मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र मंथन, विष्णु भगवान का मोहिनी -रूप-धारण, वामन तथा मत्स्य अवतारों की कथाएँ दी गयी है। साथ ही सुन्द-उपसुन्द की कथा के निर्देश करते हुए स्त्रियों के आकर्षण का वैराग्यपरक उल्लेख दिया गया है।

3.2.9.नवम स्कन्ध

पुरूरवा-उर्वशी-आख्यान, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर विवाह, राजा अंबरीष और सौभरि ऋषि का उपाख्यान, गंगा आगमन, परशुराम और श्रीराम का अवतार, अहल्योद्धार आदि का वर्णन इस स्कन्ध में है। राम कथा का विस्तार, कृष्ण-कथा के अतिरिक्त अन्य सभी कथाओं से अधिक है। रामावतार के प्रसंग में भी दशम-स्कन्ध के पूर्वार्ध के समान सूर की काव्य-प्रतिभा चमकी है।

3.2.10.दशम स्कन्ध- (पूर्वार्ध)

भगवान कृष्ण का जन्म, मथुरा से गोकुल पधारन, पूतना वध, शकटासुर तथा तृणावर्त वध, नामकरण, अन्न-प्राशन, कर्ण-छेदन, घुटुरन चलना, बाल-वेश -शोभा, चन्द्र प्रस्ताव, कलेऊ, मृत्तिका भक्षण, माखनचोर, गोदोहन, वत्सासुर, बकासुर, तथा अघासुर के वध, ब्रह्म द्वारा गो-वत्स-हरण, राधा-प्रथम-मिलन, राधा-नन्द घर आगमन, कृष्ण के राधा का घर जाना, गोचारण, धेनुक वध, कालिय दमन , प्रलंबासुर वध, मुरली-चीर-हरण, पनघट रोकना, गोवर्धनपूजा, दान लीला, नेत्र वर्णन, रास लीला, राधा-कृष्ण विवाह, मान, राधा गुरुमान , हिंडोला-लीला, वृषभासुर, केशी, भौमासुर वध, अक्रूर आगमन, कृष्ण का मथुरा चला जाना, कुब्जा मिलन, धोबी संहार, शल,तोषल, मुष्टिक और चाणूर का वध, धनुष भंग, कुवलयापीड (हाथी) वध, कंस वध, राजा उग्रसेन को राजगद्दी पर बिठाना, वसुदेव, देवकी, की कारागार से मुक्ति, यज्ञोपवीत, कुब्जा घर गमन आदि आदि वर्णन दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध में दिये गये है।

3.2.11.दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

जरासन्ध युद्ध, द्वारिका निर्माण, कालयवन दहन, मुचुकुन्द उद्धार, द्वारिका प्रवेश, रुक्मिणी विवाह, प्रद्युम्न विवाह, अनिरुद्ध विवाह, राजा मृग नृग उद्धार, बलराम जी का पुन: व्रज गमन, सांब विवाह, कृष्ण- हस्तिनपुर- गमन, जरासन्ध और

शिशुपाल का वध, शाल्व का द्वारिका पर आक्रमण, शाल्व वध, दंतवक्त्र का वध बल्वल वध, सुदामा चरित, कुरुक्षेत्र आगमन, कृष्ण श्री नन्द, यशोदा, तथा गोपियों से मिलना, वेद और नारद स्तुतियाँ, अर्जुन-सुभद्रा विवाह, भस्मासुर वध, भृगु परीक्षा, इत्यादि का उल्लेख दशम स्कन्ध के उत्तरार्ध में मिलते है।

3.2.12.एकादश स्कन्ध

श्रीकृष्ण का उद्धव को बदरिकाश्रम भेजना, नारायण तथा हंसावतार कथा इसमें वर्णित है।

3.2.13.द्वादश स्कन्ध

इसमें बुद्धावतार, कल्कि अवतार और कलि धर्म का निर्देश है। साथ ही राजा परीक्षित तथा जनमेजय की कथा, और भगवत् अवतारों का वर्णन भी दिया गया है।

3.2.14.सूरसागर का मूल स्रोत एवं अन्य विशेषताएँ

सूरसागर की कथावस्तु के स्वरूप के निर्माण में महाभारत, हरिवंश पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्म पुराण, जयदेव के गीत-गोविन्द और विद्यापति के पदों का योग महत्वपूर्ण है, किन्तु उसपर सर्वाधिक स्पष्ट प्रभाव श्रीमद् भागवत पुराण का ही परिलक्षित होता है। भागवत में चित्रित कृष्ण का लीलात्मक स्वरूप लीलारस- रसिक सूरदास की भक्ति-भावना के अनुकूल होने के कारण सहज ही सूर की अनुभूति का विषय बन गया है। स्कन्धात्मक सूरसागर सूरदास के लीलापदों का भागवत लीला के क्रम से संपादन का प्रतिफलन है। सूरसागर का दशम स्कन्ध जो आकार में सूरसागर के अन्य सभी स्कन्धों से बृहत्तम है, हरिलीला से ही संबन्ध रखता है। हरिलीला के पदों को हम भगवान कृष्ण की अलौकिक एवं दिव्य जीवन-लीला के अनुसार विभाजित कर सकते हैं। सहस्रों की संख्या में बने हुए इन पदों को देखकर आचार्य वल्लभजी सूरदासजी को 'सागर' और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी उन्हें पुष्टिमार्ग का 'जहाज़' कहने लगे थे।

सूरसागर श्रीमद् भागवत की कथा के आधार पर लिखा गया है, परन्तु द्वादश स्कन्धों के विभाजन के अतिरिक्त कथा वस्तु में वह

पूर्णतया भागवत का अनुसरण नहीं करता। ऐसा जान पडता है कि सूरदास का उद्देश्य भागवत की कथा का अविकल अनुवाद करना नहीं था। सूरसागर में दशम स्कन्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धों की रचना केवल नाम मात्र है। भागवत में अनेक विषयों की जो विस्तृत समीक्षा दिखलाई देती है, सूरसागर में उसका अभाव है। लीला के भावना प्रधान अंश ही सूर के मानस के अधिक निकट और उनकी वृत्ति को तन्मय करनेवाले प्रतीत होते है।

भागवत के चीर-हरण, रासलीला, तथा भ्रमर गीत कथायें लेकर भी सूर ने उन्हें अत्यन्त मौलिक और स्वतंत्र रूप प्रदान कर दिया है। सूरसागर में कुछ लीलाएँ ऐसी भी है जो भागवत में नहीं मिलती, जैसे राधा- कृष्ण की संयोग लीलाएँ, पनघट प्रस्ताव, दान-लीला, खंडिता के पद, मान लीला, वसंत, हिंडोल, और फाग आदि। यद्यपि ये लीलाएँ परंपरागत गीतों का प्रभाव सूचित करती है; फिर भी सूर ने उनमें अपनी मौलिकता का परिपूर्ण सन्निवेश कर दिया है। इन लीलाओं को स्वतंत्र रचना का रूप दिया जा सकता है। स्कन्धों में आई हुई घटनाओं का चुनाव भी कवि ने अपने ढंग से किया है। नवम स्कन्ध की राम कथा के बाल-लीला संबन्धी अंश सूर की रुचि के अनुकूल होने के कारण अत्यन्त रोचक और रमणीय बन पडे हैं। सीता के वियोग वर्णन में भी कवि का मानस द्रवित हो उठा है। शायद विप्रलंभ श्रृंगार का वर्णन प्रेम की परिपक्वावस्था सूचित करने के लिए सूर को अनिवार्य जान पडता था और इसमें उन्होंने अपनी विदग्ध एवं भाव-भरित कला का परिचय दिया भी अधिक है।

भगवान कृष्ण की लीलाओं का गायन सूर- काव्य का प्रधान विषय है। दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध में कवि ने श्रीकृष्ण की बाल एवं किशोर अवस्थाओं के ऐसे रूप चित्रित किए है जिनमें भगवद् भक्तों के मन

रमते रहे हैं। भगवान की ये लीलाएँ न केवल हमारी बाह्य इन्द्रियों की वृत्तियों को केन्द्रित करने में सफल हुई है, प्रत्युत हमारे आन्तरिककरणों की तन्मयता के लिए भी सहज साधन सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार सूरसागर को हरि लीला का प्रधान काव्य कहा जा सकता है।

सूरसागर में परंपरा और लोक जीवन से कृष्ण कथा को ग्रहण कर सूरदास ने अपनी कारयित्री प्रतिभा के सहारे उसका नया रूप निर्मित किया है। सूरसागर की कथा वस्तु का अपना वैशिष्ट्य है और उसमें कवि प्रतिभा की सृजनशीलता दिखाई देती है। सूरसागर की काव्य वस्तु में सूर की मौलिकता और सर्जनात्मक कल्पना की अभिव्यक्ति प्रकट है।

सूरसागर में सहज ही देवत्व और नरत्व, मानवीय और अतिमानवीय लीला, सगुण और निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप, वैधी और रागानुगा भक्ति, राग और विराग ,प्रवृत्ति

और निवृत्ति, रूप और अरूप, शरीर और आत्मा, भक्ति और श्रृंगार, प्रकृति और मानव, व्यक्ति और समाज, दर्शन और काव्य, काव्य और संगीत, चित्र, नृत्य आदि का समन्वित स्वरूप उपस्थित है जो सूर की सर्जनात्मक कल्पना और अद्वितीय रचना-शक्ति की देन है। इसमें भक्ति की धारा अन्त :सलिल की भाँति संपूर्ण काव्य वस्तु में प्रवाहित हो रही है। सूरसागर की काव्य वस्तु की कलात्मकता के मूल में सूर की संगीत संवेदना और सामंजस्य ज्ञान का भारी योगदान है।

सूरसागर की सराहना करते हुए डॉ.हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है--"काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में घुलमिल गया है।"

यत्र-तत्र बिखरे इस श्रीमद् भागवत अनुसार द्वादश-स्कन्धात्मक रूप में श्री सूर का विशिष्ट वाङमय 'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ' जैसे अनेक अनगढ़ काँच मणियों के साथ रगड खा खाकर मटमैला होकर भी कवित्व की प्रभा के साथ कोमलता, कमनीयता, कला एवं कृष्णस्तु भगवान स्वयं की सगुणात्मक भक्ति, उसकी भव्यता, विलक्षणता, उनके विलास, व्यंग्य, और विदग्धता आदि चमक चमककर आप के कृतित्व रूप सागर को नित्य नये रूप दर्शनीय और वन्दनीय बना रहे हैं।

निष्कर्ष:

कृष्ण भक्त कवि सूरदास के जीवन संबन्धी जो प्रामाणिकता वल्लभ संप्रदाय संबन्धी वाङमय ने प्रस्तुत की है, वही अधिक माननीय है। क्यों कि सूरदास स्वामी वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी के अनुयायी भक्त थे। उन्हीं से उपलब्ध सामग्री के अनुसार सूर का जन्म दिल्ली के पास 'सीही' नामक गाँव में एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में वि.सं. 1535 के वैशाख शुक्ला पंचमी को हुआ है। सूरदास अन्धे थे, यह तो सर्वमान्य है। लेकिन जन्मान्ध थे या बाद में किसी कारणवश अन्धे हो गये थे, इस में विवाद आज भी चलते हैं। सूरदास भगवत् कृपा से अन्तर्दृष्टि संपन्न महान थे। सूरदास का बचपन उपेक्षा एवं अपमान में बीता था। शायद इसी कारण वश वे बचपन में ही विरक्त होकर घर-परिवार सब छोडकर चले गये।

अठारह वर्ष के उम्र में उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और वे सीही छोडकर चले और अनेक जगहों में घूम-फिरकर 'रेणुका तीर्थ' में पहूँचे। वहाँ 'गऊघाट' में रहने लगे। वहीं से उनकी भेंट पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य से हुई। यह उनके जीवन

का एक महान मोड था। वल्लभाचार्य से उन्होंने पुष्टिमार्ग में दीक्षा ली। उनसे सूर ने श्रीकृष्ण लीला का मर्म समझ

पाये। वल्लभाचार्य जी के साथ पहले व्रज और फिर गोवर्धन चले गये। गोवर्धन में वे स्थायी रूप से वास करने लगे। वल्लभाचार्य से भागवत के सूक्ष्म तत्वों को समझकर उन्होंने अपने इष्टदेव की लीला का गायन किया। श्री वल्लभाचार्य के तिरोधान के बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने एक कीर्तन-मंडली का गठन किया था, जिसमें आठ साहित्य-संगीत निष्णात भक्त थे। वे 'अष्टछाप' कहलाये। अष्टछाप मंडली के मुख्य थे सूरदास। उनके नेतृत्व में उपासना, भक्ति, सेवा, साहित्य, संगीत आदि क्षेत्रों में अष्टछाप महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। सूर के मन में श्रीकृष्ण के अलावा और किसी को स्थान नहीं था।

"सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी" सूर की रचनाएँ हैं। इन में सबसे प्रमुख है- 'सूरसागर'। यह सूरदास की प्रामाणिक रचना है। 'श्रीमद् भागवत' के जैसे सूरसागर की कथावस्तु भी द्वादश स्कन्धों में विभाजित किया है। सूरसागर की कथावस्तु में श्रीमद् भागवत् पुराण के अलावा महाभारत, हरिवंश पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्मपुराण, जयदेव के गीत-गोविन्द आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'सूरसागर' श्रीमद् भागवत के आधार पर लिखा गया है, तो भी पूर्ण रुप से भागवत् का अनुसरण नहीं हुआ है। सूर का उद्देश्य भगवान श्रीकृष्ण की लीला गान करना ही है। चीर-हरण, रासलीला, भ्रमर गीत आदि भागवत् के होने पर भी सूर की मौलिक एवं स्वतन्त्र रचना है। वैसे राधा-कृष्ण संयोग लीला, पनघट प्रस्ताव आदि भागवत में नहीं है। सूरदास ने अपनी रचना 'सूरसागर' में भक्ति या प्रेम तत्व को ही महत्व दिया है। प्रेम भक्ति के पाँचों अंगों- दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य और आत्मनिवेदन- के माध्यम से भगवत् प्रीति प्राप्त कर ली है। वे स्वयं को वृन्दावन की गोपिका माने थे। प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष में उन्होंने वियोग पक्ष को ही अधिक प्रमुखता दी है।

संक्षेप में कहें तो 'सूर' और उनके 'सूरसागर' ' कृष्णस्तु भगवान स्वयं' की सगुणात्मक भक्ति को बढ़ावा देनेवाले बृहत् सागर ही है। स्वयं वल्लभाचार्य ने भी सूरदास को 'सूरसागर' कहा गया है।

संदर्भ सूची-

1.प्रभुदयाल मीत्तल-प्राक्कथन-सूरदास शोधपूर्ण जीवन वृत्तांत, विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

2.सूरसागर-नागरी प्रचारणी सभा-95.

3.सूरसागर-ना.प्र.सभा-1.

4.जगमोहन कत्याल, सूरदास राधाकृष्ण मूल्यांकन माला, संपादन.हरबंस लाल शर्मा-सूरदास का अन्धत्व।

5 सूरसागर-पद सं-2585.

6.सूरसागर-ना.प्र.सभा-146.

7. सूरसागर-ना.प्र.सभा-138.

8.सं.डाँ.धीरेन्द्र वर्मा-सूरसागर सार- सूरसागर-चित्-बुद्धि-संवाद-(विनय पद)-46.

9.डाँ.धीरेन्द्र वर्मा-सूरसागर-उद्धव-गोपी-संवाद—सूरसागर सार-पद-97.

10.सूरसागर-उद्धव-राधिका संवाद।

11.डाँ.विजयेन्द्र स्नातक- सूर साहित्य में लोक मंगल तत्व-(सूरमन्दाकिनी),पृ.14.

Vanaja K.G “A comparative study of devotional love in sursagar and narayaneeyam” Thesis. Department of Hindi, Govt.Arts and Science College, Meenchanda,Calicut., University of Calicut, 2016.

अध्याय-4

मेलपत्तूर नारयण भट्टतिरि और उनका नारायणीयम्

श्री वासुदेव मूस्सत् अपनी रचना 'मेल्पत्तूर भट्टतिरि' में कहते हैं "केरल के ब्राह्मण समाज (नम्बूतिरि समाज) में ज्ञान मार्ग का प्रचार करने केलिए आदि शंकराचार्य का अवतार हुआ है तो भक्ति मार्ग को दर्शाने केलिए ही श्री मेल्पत्तूर नारायण भट्टतिरि का जन्म हुआ है।"(1)

4.1.1.जीवन वृत्त

करीब चार सौ बीस वर्ष पहले जन्म लेकर सताईस वर्ष की आयू में 'नारायणीयम' स्तोत्र की रचना करके वात रोग से मुक्त होकर छियासी वर्ष तक जीवित रहे आयु-आरोग्य-सुखी है- श्रीमन् मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरि।

भट्टतिरि का जन्म सन् 1560 ई.(कोल्लवर्ष 735 याने मलयालम वर्ष) हुआ। निला नदी से लगभग तीन मील उत्तर में कुरुंपत्तूर नामक गाँव में उनका जन्म हुआ था। परिवार का नाम था 'मेलपत्तूर'। उनके पिता का नाम मातृदत्त था। वे भट्टमीमांसा, प्रभाकर मीमांसा, वेदान्त, सांख्ययोग आदि शास्त्रों के पारंगत विद्वान एवं धर्म-कर्म-सदाचारण में निष्ठा रखने वाले थे।

4.1.2.शिक्षा-दीक्षा

नारायण भट्टतिरि की शैशव शिक्षा एवं उपनयन-संस्कार विधिवत् संपन्न हुआ। माधवन ओतिक्कन(2), पिता मातृदत्त और बडे भाई दामोदर से भट्टतिरि ने वेद, संस्कृत, तर्क- शास्त्र, मीमांसा आदि शास्त्रों

का अध्ययन किया। इसके बाद व्याकरण आदि का अध्ययन करने के लिए अच्युत पिषारोटि (3)नामक एक बहुमुखी प्रतिभा वाले के पास गया।

पिषारोटि एक अप्रतिम पंडित थे। व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यविद्या और अलंकार में वे दक्ष थे। तृक्कण्डियूर नामक स्थान में वे रहते थे। पिषारोटि के यहाँ उनके अनेक शिष्यगण रहते थे। नारायण भट्टतिरि भी उच्च शिक्षा के लिए वहाँ आ पहूँचे और अध्ययन

आरंभ हुआ। अचिरेण पिषारोटि की भाँजी के साथ मेलपत्तूर भट्टतिरि का विवाह संपन्न हुआ। (उस समय नंपूतिरि जाति के कनिष्ठ पुत्र अन्य जाति की लड़की से शादि करने की प्रथा थी।) विवाह के बाद भट्टतिरि अध्ययन के प्रति उदासीन तथा लौकिक सुखभोगों के प्रति समाकृष्ट होने लगे। अपने बुद्धिमान शिष्य की ऐसी दुर्दशा देखकर पिषारोटि अत्यन्त खिन्न हुए। लेकिन महीनों तक वे बिना कुछ कहे, सब सहते रहे।

एक दिन सुबह एकाध प्रहर बीत चुका था। पिषारोटि के शिष्यगण घर के ओसारे में बैठकर पढ़ रहे थे; तभी भट्टतिरि जाग उठकर बाहर आये और दो कतारों में बैठे शिष्यों के बीच से होकर आँगन में पहूँचे। यह देखकर पिषारोटि बडी व्यथा से कह उठे--"अपना विशिष्ट ब्राह्मण-जन्म यों बेकार नष्ट कर रहे हो ! हा कष्ट!" भट्टतिरि ने गुरु का कथन सुना। क्योंकि पिषारोटि ने कुछ कुछ स्वगत में, लेकिन इतने ऊँचे स्वर में कि भट्टतिरि भी सुने, कहा था। वे थोडी देर सोचते खडे रहे; कुछ नहीं कहा। फिर तुरन्त जाकर स्नान, सन्ध्या वन्दन आदि कृत्यों से निवृत्त होकर आये और पिषारोटि से प्रार्थना की--

"मग्नं महामोहमये महाब्धौ

मन्दं, महात्मन् ,ममताकुलेन

कृपापयोधे, मनसोद्धरामुं

कृत्वोडुपं ज्ञानमयं प्रपन्नम्।"

(अब तक मैं महामोह के अथाह समुद्र में मग्न पडा था, और अभी आप के शरण में आया हूँ। हे महात्मन! हे कृपा सागर! आप की ममता भरी मन से ज्ञान रूपी उडूप बनाकर इस शरणार्थी को बचा लें।)

यह भट्टतिरि के जीवन में एक नया मोड था। यौवन की चपलता उनसे हट गयी। उनमें प्रतिभा की कमी तो नहीं थी, आलस्य एवं भोगलालसा ही था। वह दूर हुआ तो उन्होंने थोडे ही दिनों में व्याकरण, अलंकार, आदि शास्त्रों का गहन अध्ययन पूरा किया और बडे विद्वान बने। लगन और उत्साह ने यह करामत कर दिखाई। पिषारोटि बहुत प्रसन्न थे। भट्टतिरि के हृदय में अपने गुरु के प्रति परम श्रद्धा और भक्ति अनुदिन बढ़ते रहे। अपने शिष्य के प्रति गुरु का भी वात्सल्य उमड पडा। गुरु तथा शिष्य का यह आदर्श संबन्ध पिषारोटि के मरण-पर्यन्त बना रहा। अनुमान किया जाता है कि यहाँ रहते हुए भट्टतिरि ने प्रबन्धों की रचना शुरू की, अपने मित्र कुट्टनंचेरी इरवि चाक्कियार(4) के अनुरोध से । किसी दिन रामायण का 'कूत्तु' करते हुए चाक्कियार शूर्पणखा के स्तन- नासिका छेद के प्रकरण तक

आये। उन्होंने भट्टतिरि से कहा कि अगले दिन के लिए निरनुनासिक प्रबन्ध लिखकर दीजिएगा। अपने मित्र के लिए भट्टतिरि ने 'शूर्पणखा प्रलाप' शीर्षक निरनुनासिक प्रबन्ध लिखा। राक्षसी का नाक कट गया था और इसलिए उसकेलिए अनुनासिक वर्णों का उच्चारण असंभव था। इस प्रबन्ध में आठ श्लोक है और एक लंबा गद्य भी। इसकी रचना के संबन्ध में प्रबन्ध के अन्त में यह श्लोक आता है--

"अनुनासिक रहितानि व्यतनोदेतानि, पद्यगद्यानि

नारायणाभिधानो द्विजपोतो रविनटेश्वरादेशात।"

द्विजपोत शब्द से सिद्ध है कि इस समय भट्टतिरि बहुत छोटी अवस्था के थे। इरवि चाक्कियार ने निरनुनासिक भाषा में ही निरनुनासिक प्रबन्ध का 'कूत्तु' सभा को सुना दिया।

जब भट्टतिरि पिषारोटि के यहाँ पढ रहे थे, तब पिषारोटि एक दफे वातरोग से पीडित होकर शय्यावलंबी हो गये। भट्टतिरि उनकी सेवा-शुश्रूषा में मग्न हुआ। पिषारोटि स्वयं तो अच्छे वैद्य एवं ज्योतिषी थे। सभी चिकित्सायें विफल हो गई। तभी तो ज्योतिष की विधि के अनुसार सोच-विचार किया गया। मालूम हुआ कि पूर्व जन्म के दुरितों का कुपरिणाम है। फिर विध्यनुसार परिहार-कर्म- तिल-हवन, उच्चाटन आदि शुरू हुआ। अन्त में कर्म- विपाक-दान (किसी व्यक्ति के कर्मों का बुरा फल या दुरित और कोई स्वेच्छा से स्वीकार करना) का अवसर आया। दान ग्रहण के लिए ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जिसमें ब्रह्म तेज भरा पडा हो। नहीं तो दुरित ग्रहण-कर्ता को लग जाएगा और उससे उसे कभी मुक्ति भी नहीं मिलेगी। शिष्यों में से किसी ने भट्टतिरि का नाम सुझा दिया और भट्टतिरि ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। शिष्य ने गुरु के सारे पाप अपने ऊपर मंत्र-पूर्वक ले लिए और फल-स्वरूप गुरु जल्दी से रोगमुक्त हो गये तथा वे (भट्टतिरि) स्वयं रोग से पीडित होने लगे। भट्टतिरि की आयू उस समय छब्बीस वर्ष की थी। वे इस गुरु-सेवा से अतीव कृतकृत्य हुए। उनमें तनिक भी अधैर्य या मन:क्लेश नहीं थे।

मेल्पत्तूर भट्टतिरि के लिए भी अनेक प्रकार की चिकित्सायें और प्रायश्चित आदि परिहार भी करते रहे। लेकिन रोग कम नहीं हुआ। अन्त में भट्टतिरि को लगा कि 'गुरुवायूर मन्दिर' में जाकर भजन करने से

अपने को रोग से पूर्ण रूप से मुक्ति मिलेगी। उन दिनों यह विश्वास भी प्रचलित था कि गुरुवायूपुरेश भगवान कृष्ण का भजन वातरोग की मुक्ति के लिए अच्छा है। यह विश्वास आज भी है। भट्टतिरि के साथ उनका छोटा भाई मातृदत्त भी उनकी सहायतार्थ गया। मलयालम् वर्ष 761 सिंह मास 19 वीं तारीख को भट्टतिरि गुरुवायूर भजन के लिए निकल पडे। जाने के पहले अपने गुरु अच्युत पिषारोटि की अनुमति एवं आशिर्वाद लिए , फिर भक्तोत्तम तुञ्चत् रामानुजन एषुत्तच्छन को भी सूचना दी कि उन्होंने उपहास से "मीन तोट्टु कूट्टान" कहला भेजा। मतलब, मत्स्यावतार से लेकर भगवान की कथा लिखकर भगवद् भजन करने केलिए था।

4.1.3.भजन एवं स्तोत्र रचना

भट्टतिरि गुरुवायूर आये। भजन का क्रम था- प्रात:स्नान, संध्यावन्दन आदि से निवृत्त होकर मंदिर में जाना और दिन-भर वहीं प्रार्थना, परिक्रमा, ग्रन्थ पारायण, स्तोत्र रचना आदि में लगे रहना। वे मंदिर का नैवेद्य ही खाते थे। प्रतिदिन एक दशक पूरा करके भगवान को सुना देते थे और मातृदत्त उसे लिख लेते थे। मुख-मण्डप पर भगवान के अभिमुख बैठकर स्तोत्र रचना एवं वाचन पूरा करते थे। एक सौ दशकों में सारे भागवत का संग्रह करने की योजना थी। शुरू में दो दिन बीत गये। तीसरे दिन रोग-पीडा बहुत बढ़ी। तीसरे दशक के दीन-वचन, उपालंभ, अवसाद, भजन के प्रति विरक्ति आदि का यही कारण था। भजन की पूर्ति में उन्हें अब सन्देह होने लगा। अन्त में भट्टतिरि ने निश्चय किया - चाहे जो भी हो मैं यहीं रहूँगा, रोग से छुटने तक, "यथा शक्ति नतिनुतिनिषेवा विरचयन्"। प्रथम दो दशकों में उन्होंने अपने रोग का उल्लेख तक नहीं किया है। पहले दशक के दूसरे श्लोक का यह कथन --

“एतेतावद्वयंतु स्थिरतरमनसा विश्वपीडापहत्यै

नि:शेषात्मानमेनं गुरुपवनपुराधीशमेवाश्रयाम:"।(5)

सामान्य कथन मात्र है और 'विश्वपीडा' की सूचना वैयक्तिक भी हो सकता है, सामूहिक भी। लेकिन आगे के सभी दशकों के अन्त में अपने त्रितापों के निवारण एवं संरक्षण की प्रार्थना है। संभव है भट्टतिरि रोग के कुछ शांत होने पर ही गुरुवायूर आये हो और वहाँ की नई परिस्थितियाँ, प्रात:स्नान आदि के कारण आरंभ में वह कुछ बढ़ गया हो। निन्यानबे वाँ दशक तक वे वातरोग पीडा का अनुभव करते रहे, ऐसा माना जा सकता है। सौवें दिन पर

गुरुवायूरप्पन ने वेणुगोपाल के रूप में अपने भक्त मेल्पत्तूर भट्टतिरि को दर्शन दिया। "अग्रे पश्यामि" वाला अन्तिम दशक इसी रूप दर्शन का वाङ्मय चित्र है। उस परम रूप दर्शन से भट्टतिरि सब पीडाओं से मुक्त हुए और अमृत रस में आप्लावित जैसा सुख भी उन्हें प्राप्त हुआ।

मलयालम् वर्ष 762 वृश्चिक माह (महीने)28 को रविवार के दिन स्वाति नक्षत्र तथा कृष्ण पक्ष द्वादशी को भट्टतिरि ने 'नारायणीयम्'स्तोत्र की समाप्ति करके भजन पूरा किया। उस समय उनकी आयू केवल 26-27 वर्ष मात्र की थी।

भट्टतिरि ने गुरुवायूर में रहते हुए अपने मुख्य ग्रन्थ "नारायणीयम्" के साथ साथ अनेक सरस मुक्तक भी लिखे जिन में एक श्लोक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे उसमें रोग को अपना हितैषी मित्र कहते हैं। उसी ने कवि के मन को लौकिक भोगों से हटाकर भगवान के चरण-कमल एवं वेदांतानुध्यान में लगवा लिया था-

“हे रोगा; ननुयूयमेव सुह्दो यैर्निस्पृहोऽहं कृत:

काव्यालंकृतितर्ककोविदसभा योगेषु भोगेषु च

नो चेत् कृष्णपदारविन्दं भजनं वेदान्तचिन्तामपि

त्यक्त्वा "श्व: श्व:"इति भ्रमादहरह-र्याम्येव याम्यां पुरीम् ।"(6)

(हे रोग! तुम ही मेरे मित्र हो। तुम ने ही मुझे काव्य, अलंकार, तर्क आदि में निपुण विद्वानों के सभाओं में तथा सुख-भोगों में अरुचि पैदा की थी। अगर तुम ने ऐसा नहीं किया तो कृष्ण पादारविन्द भजन तथा वेदान्त चिन्ता में मन लगाये बिना लौकिक जीवन में मग्न होकर मुझे यमपुरी जाना पडता था।)

"नारायणीयम्" से भट्टतिरि के बहुमुखी ज्ञान-विज्ञान एवं कवि प्रतिभा तथा अतुल भक्ति का परिचय मिलता है। उन्हें 'भागवत' पूरा का पूरा हृदिस्थ था। इसके अलावा भारत, रामायण, ब्रह्मांड-पुराण, स्कन्द-पुराण, आदि पुराण ग्रन्थ तथा योग शास्त्र, सांख्य वेदान्त, व्याकरण, शैवागम, मन्त्र शास्त्र, शंकराचार्य की कृतियाँ-इन सब को भी उन्होंने पढ़ लिया था।

गुरुवायूर भजन की समाप्ति से मेल्पत्तूर भट्टतिरि को पूर्ण रूप से स्वास्थ्य वापस मिला। फिर ज्ञान संपादन- वितरण तथा कृष्ण भजन को लेकर वे बढ़ते रहे। कभी गुरुवायूर भी आते रहे। इस संबन्ध में एक और जनश्रुति का यहाँ उल्लेख करना समीचीन होगा। भक्त कवि पून्तानम् नम्पूतिरि भट्टतिरि के समकालीन थे और किसी दिन वे दर्शनार्थ गुरुवायूर मन्दिर पहूँचे। मन्दिर में परिक्रमा करने वाले भट्टतिरि के पास पून्तानम् गये और प्रार्थना की कि आप मेरी रचना 'ज्ञानप्पाना' को देखें। 'ज्ञानप्पाना' ठेठ मलयालम की रचना थी और भट्टतिरि तो संस्कृत के पारंगत विद्वान थे।

वे मलयालम को नीची नज़र से देखते थे। अत: उन्होंने पून्तानम से कहा-"इस मलयालम रचना (भाषाकृति) और किसी को दिखा दीजिए। "पून्तानम दु:खी एवं हताश हो चले गये। उस दिन रात भट्टतिरि की वातपीडा जो तब तक थम गई थी, अत्यन्त बढ़ी और वे भगवान का नाम लेते हुए कराहने लगे। अन्त में उन्हें थोडी सी बेहोशी या झपकी -सी आई तो उस स्थिति में एक बालक उनके सामने प्रत्यक्ष हुए और उनसे कहा- "मुझे भट्टतिरि के विभक्ति-ज्ञान से प्रियतर है पून्तानम की भक्ति। जाकर उन्हें सान्त्वना दो। तभी रोग शांत होगा।" अगले दिन सबेरे भट्टतिरि ने ऐसा ही किया तो उनका रोग कम हुआ। मानव के अहंकार को तोडकर ही भगवान उस पर कृपा करते हैं- "ज्ञानं तपश्च विनयान्वितमेव मान्यम।"

4.1.4.अनन्तर कालीन जीवन

मेलपत्तूर गुरुवायूर से विदा होकर 'कोच्चि' राज्य के राज दरबार गये, जहाँ उनका बडे आदर से स्वागत हुआ। म.व.776 से लेकर 790 तक के कोच्चि राजा वीर केरल वर्मा की प्रशस्ति में भट्टतिरि ने दो काव्य रचे है --"माटराजप्रशस्ति और वीर केरल प्रशस्ति" वटक्कुम्कूर राजा गोदवर्मा से भी उनकी मित्रता यहीं से जुड गई। वैक्कम शिव मन्दिर में अष्टमी महोत्सव देखने गये तथा अष्टमी प्रबन्ध की रचना की। इसके बाद भट्टतिरि अंपलप्पुषा गये। वहाँ के 'चेम्पकश्शेरी राजा' के अनुरोध से उन्होंने 'प्रक्रिया सर्वस्व' नामक व्याकरण ग्रन्थ म.व 792 में रचा।

'प्रक्रिया सर्वस्व' नामक व्याकरण ग्रन्थ का केरल में ही नहीं तमिलनाडु में भी अच्छा प्रचार हुआ। 'वैनतेय' नामक पंडित ने इसका खंडन किया तो सुदर्शन नामक पंडित ने इसका समर्थन भी किया। तब भट्टतिरि ने "अपाणिनीयप्रामाण्यसाधनम्" नामक दूसरा ग्रन्थ लिखा।

इन दिनों भट्टतिरि के गुरु अच्युत पिषारोटि के कठिन रोग का समाचार सुनकर भट्टतिरि तुरंत तृक्कंडियूर आये तथा गुरु शुश्रूषा में लग गये। म.व.796 में पिषारोटि का देहांत हुआ, तब उन्होंने गुरु की मृत्यू पर इस श्लोक की रचना की-

"हा,शब्दागम ! निर्दयं विबुधता लुब्धैर्निपीडिष्यसे

हन्त ! ज्योतिष-तंत्र पर्यवसिता तिन्यक्षयोस्ते कथा।

धष्टैकप्रवणासि वैद्यसरणे नष्टोस्यलंकार भी: !

विद्यात्मा स्वर सर्पदद्यभवतामाधारभूतोऽच्युत:।"

मेलपत्तूर कुछ काल तक कोषिक्कोड सामूतिरि राजा की विद्वत्सभा में भी रहे। इस समय की उनकी रचना है-"शैलाधीश्वर प्रशस्ति अथवा मानवेद प्रशस्ति।"

अपने जीवन के अन्तिम दिन भट्टतिरि ने मूक्कोल(संस्कृत में मुक्ति स्थल) के देवी मन्दिर में बिताये थे। दस-पन्द्रह वर्ष तक वे यहाँ रहे। इस समय उन्होंने "श्रीपादसप्तति स्तोत्र" नामक एक देवी स्तुति-परक ग्रन्थ लिखा। म.व.821 में उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। जनश्रुति के अनुसार उनका अन्त आकस्मिक, अनायास एवं प्रशांत था। किसी दिन वे ऊपरवाले मन्दिर में देवी की आराधना समाप्त कर नीचे की मन्दिर को जा रहे थे कि रास्ते में अकस्मात शिथिल होकर गिरे और शीघ्र ही उनके प्राण-पंखेरू उड गये। उस समय उनकी आयू छियासी वर्ष की थी।

अपनी विद्वत्ता, भक्ति एवं कवित्व शक्ति में मेल्पत्तूर भट्टतिरि अग्रगण्य हैं। वे एक अतिमानुष थे। उनका सर्वांगीण महिमातिशय वाणी एवं मन के लिए अगोचर है। श्रुति, स्मृति, शास्त्र, काव्यतत्व,

तर्क, व्याकरण, अलंकार,--संस्कृत- ज्ञान- विज्ञान की एक भी शाखा ऐसी नहीं है जिसपर भट्टतिरि ने अधिकार न प्राप्त किया हो। विद्वत्ता और सरसता का समरस सम्मेलन उनकी रचनाओं में देख सकते हैं। भट्टतिरि की विद्वत्ता के संबन्ध में केरल के प्रसिद्ध कवि , समालोचक एवं साहित्य-इतिहासकार स्व. उल्लूर एस.परमेश्वर अय्यर कहते है-“ यह पवित्र परशुराम-भूमि अनेक महात्माओं के अवतार के कारण अनन्य प्रशस्ति का पात्र बनी है। विद्वानों का मत है कि उन पुण्य पुरुषों में आचार्य शंकर के बाद भट्टतिरि ही अपनी विद्वत्ता एवं कवित्व शक्ति से प्रथम गणनीय हैं। वे एक अतिमानुष थे।”(7)

4.1.5.भट्टतिरि की रचनाएँ

भट्टतिरि की रचनाओं को हम निम्न लिखित वर्गों में रख सकते हैं--- 1.मुक्तक, 2.प्रशस्तियाँ, 3.स्तोत्र, 4.चंपू तथा प्रबन्ध काव्य, 5.शास्त्र ग्रन्थ और 6.फुटकल रचनाएँ।

4.1.5.1.मुक्तक

भट्टतिरि के मुक्तक उनकी द्रुत-कवित्व-प्रतिभा एवं सरस सहृदयता के उत्तम निदर्शन है। साथ साथ उनके शास्त्र- ज्ञान, काव्य-प्रतिभा एवं भक्ति आदि को प्रमाणित करते हैं। उन्होंने प्रसंगानुसार जो मुक्तक रचे है, असंख्य है। इनमें अधिकांश एकश्लोकी है। इनमें से एक उदाहरण नीचे दिये है , जो अपने शिष्यों के लिए लिखा गया है, ऐसा माना जाता है।-

"कृष्णो रक्षतु मां चराचरगुरु: कृष्णं नमस्ये सदा

कृष्णेनैव सुरक्षितोऽहमसकृत् कृष्णाय दत्तं मन:

कृष्णादेव समुद्भवो मम विभो कृष्णस्य दासोऽस्म्यहं

कृष्णे भक्तिरचञ्चलास्तु भगवन हे कृष्ण तुभ्यं नम:।"

भारतप्पुषा (नदी), अम्पलप्पुषा श्रीकृष्ण, वैक्कत्तप्पन (वैक्कम मन्दिर के भगवान महादेव), चेरुमन्नत्त शिव भगवान, कुमारनेल्लूर कार्त्यायनी देवी आदि के बारे में उन्होंने जो मुक्तक रचे है, ये सब उनके पांडित्य एवं भक्ति का उत्तम उदाहरण है।

4.1.5.2.प्रशस्तियाँ

इस शाखा की मुख्य रचनाएँ हैं- 'माटराज प्रशस्ति',' वीर केरल प्रशस्ति', अथवा 'गोश्री नगर वर्णन', 'देवनारायण प्रशस्ति', 'बिंबलीश प्रशस्ति', 'मानवेद प्रशस्ति' आदि।

माटराज प्रशस्ति तथा वीरकेरल प्रशस्ति म.व. 776 से 790 तक के कोच्चि के राजा वीरकेरल वर्मा के बारे में लिखा गया है। वीरकेरल प्रशस्ति के पूर्व भाग नगर वर्णन और उत्तर भाग राज स्तुति है। इसलिए इसका नाम 'गोश्री नगर वर्णन' भी पडा। जब वीरकेरल वर्मा (माटमहाराज) 'तृक्कणा मतिलकम् ' नामक स्थान में रहते समय उनकी स्तुति में रची गयी रचना है, माटराज प्रशस्ति। इसमें भट्टतिरि ने राजा की कीर्ति वैभव का वर्णन करते हुए अपने पांडित्य का भी प्रदर्शन किया है।

देवनारायण प्रशस्ति में अम्पलप्पुषा के राजा की प्रशस्ति है। अपने सहज नर्म तथा पांडित्य के साथ उन्होंने राजा की प्रशंसा की है। (देवनारायण नाम चेम्पकश्शेरी राजा का पद नाम है।) बिंबलीश प्रशस्ति , वटक्कुमकूर गोदवर्मराजा की प्रशस्ति में लिखा गया है। कोषिक्कोट सामूतिरि राजा मानवेद की प्रशंसा करते हुए लिखी रचना है, मानवेद प्रशस्ति।

4.1.5.3.चम्पू तथा अन्य काव्य

अपने मित्र कुट्टनचेरी इरवि चाक्कियार के निर्देशानुसार मन्दिरों में 'कूत्तु' कथा कथन करने के लिए भट्टतिरि ने रामायण,महाभारत,भागवत् आदि प्राचीन ग्रन्थों से ग्रहण करके कई चम्पू ग्रन्थ की रचना की है।

रामायण से -निरनुनासिक अथवा शूर्पणखा प्रलाप, राक्षसोत्पत्ति, अहल्या मोक्ष, बालकांड आदि प्रसिद्ध है।

महाभारत से -राजसूय, दूतवाक्य, पांचालीस्वयंवर, नालायणीचरित, सुन्दोपसुन्दोपाख्यान, सुभद्राहरण, कौन्तेयाष्टक, किरात तथा कैलास-वर्णन। तथा भागवत से- मत्स्यावतार, नृगमोक्ष, शैव-दक्षयज्ञ, त्रिपुरदहन। इसके अलावा अष्टमी चम्पू, स्वाहा सुधाकर कोटि विरह आदि भी भट्टतिरि से रची हुई चम्पू कृतियाँ है।

4.1.5.4.शास्त्र ग्रन्थ

भट्टतिरि से विरचित शास्त्र ग्रन्थ के विभाग में सात ग्रन्थ आते है। श्रुति-स्मृति संबन्धी चार ग्रन्थ और व्यकरण के तीन। पहले में—सूक्तश्लोक, आश्वलायन क्रिया कर्म, तन्त्रवार्तिक निबन्धन, और मानमेयादय-मानपरिच्छेद--निहित है। सूक्त श्लोकों में ऋग्वेद के आठों अष्टकों के सूक्तों के बारे में बताये गये हैं। आस्वलायन क्रिया कर्म में शौनक एवं आशवलायन ऋषियों द्वारा वर्णित ब्राह्मणों की गृह-विधियाँ ही विषय है। तन्त्र वार्तिक निबन्धन का विषय तन्त्र शास्त्र है और मानमेयादय-मानपरिच्छेद उनका पूर्व मीमांसा ग्रन्थ है।

व्याकरण के तीन ग्रन्थ- प्रक्रिया सर्वस्वम्, धातुकाव्य और अपाणिनीयप्रामाण्यसाधनम्- है। प्रक्रिया सर्वस्वम् नामक रचना में भट्टतिरि ने पाणिनी के अलावा अनेक पूर्व कालीन विद्वानों एवं ग्रन्थों को आदर्श रूप में सूचित किया है। उन्होंने इसमें

कहीं कहीं पाणिनी का तिरस्कार भी किया है। इसमें सूत्र, वृत्ति, उदाहरण तथा पद्यविवरण ये चारों आ पाये जाते है।

'धातु काव्य' में अक्रूर के आगमन से लेकर कंस वध तक की भागवत कथा द्वारा 248 पद्यों में संस्कृत के 1948 धातुओं के उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। 'अपाणिनीयप्रामाण्य साधनम्' में भट्टतिरि पाणिनी तथा अन्य वैयाकरणाचार्यों की विधियों के सम्बन्ध में 'सर्वस्व' में अभिव्यक्त अपने उदार मत का समर्थन करते हैं।

4.1.5.5.स्तोत्र ग्रन्थ

स्तोत्र ग्रन्थ तीन हैं--नारायणीयम्, श्रीपाद सप्तति, तथा गुरुवायुपुरेश स्तोत्र। श्रीपाद सप्तति में 'मूक्कोल देवी' की संबोधना करते हुए रचित पादारविन्दवर्णन है। इसमें अर्थ चमत्कृति प्रधान 71 पद्य हैं। गुरुवायुपुरेश स्तोत्र एक छोटी सी रचना है। इस में 12 मनोहर श्लोक निहित हैं।

'नारायणीयम्' भट्टतिरि से लिखी गयी एक महत्वपूर्ण स्तोत्र रचना है। कहा जाता है कि संस्कृत साहित्य में इसका दूसरा स्थान है (पहला स्थान शंकराचार्य के सौन्दर्य लहरी को है, ऐसा माना जाता है।) परन्तु चित्तद्रवीकरण में नारायणीयम् सबसे आगे है। इस ग्रन्थ की रचना के द्वारा भट्टतिरि ने अपने लिए वातरोग से विमुक्ति एवं "आयुरारोग्यसौख्य" प्राप्त किया।

“श्री मेल्पुत्तूर नारायण भट्टतिरि ने हमें अपने जीवन तथा रचना के माध्यम से यह उपदेश दिया है कि लौकिक सुख में डूबकर काल काटना जीवन का आदर्श नहीं, बल्कि परम प्रेम रूपी भक्ति ही मानव जन्म को सफल बना देती है। भक्ति याने प्रेम, यही मानव को मानव बनाता है। यही मानव जन्म की पराकाष्ठा है। भट्टतिरि ने प्रेम का आदर किया, प्रेम की स्तुति की और प्रेम का प्रचार किया। प्रेम ही उनका पुरुषार्थ है।” (8)

फुटकल रचनाओं में अष्टमी प्रबन्ध,स्वाहा सुधाकर और कोटी विरह आते हैं। 'अष्टमी प्रबन्ध' में वैक्कम महादेव मन्दिर के अष्टमी महोत्सव का वर्णन है, तथा कोटि विरह एक कल्पित कथा है।

4.2.नारायणीयम्

4.2.1.स्वरूप तथा विषय

संस्कृत में जितने ही स्तोत्र ग्रन्थ उपलब्ध है, उनमें "नारायणीयम्" का स्थान दूसरा कहा जाता है। समालोचक आचार्य शंकर की "सौन्दर्य लहरी" को ही प्रथम स्थान देते है। लेकिन चित्तद्रवीकरण में "नारायणीयम्" सबसे आगे है। "सौन्दर्य- लहरी" के श्लोक नारियल के समान है तो "नारायणीयम्" अंगुर के समान भीतर-बाहर मृदु-मधुर, स्वादु तथा हितकर। भट्टतिरि के महा विजय का रहस्य इस बात में निहित है कि कथाकथन भगवान की संबोधना करते हुए बढ़ रहा है और दशकों के अन्त में रोग-शमन की प्रार्थना द्वारा कवि भक्त और भगवान के बीच घनिष्टता स्थापित करते हैं। रस-भावानुगुण वर्णों, पदों एवं छन्दों का प्रयोग, शलेष, यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकारों और उचित, सरस एवं सुन्दर अर्थालंकारों की प्रचुरता, छन्दों का वैविध्य, भाव एवं भाषा का प्रवाह जैसे उसके स्वरूप को मनोरम देते है वैसे ही भाव की एकाग्रता, अगाधता तथा अकृत्रिमता, विषय-चयन का औचित्य, आदि

उसकी आत्मा को। भट्टतिरि ने सौ दशकों में सारे भागवत् का संग्रह इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। (दशकों की संख्या सौ हैं। किसी किसी दशक में दस से अधिक श्लोक हैं और दशक पैसठ में एक श्लोक कम है। कुल श्लोकों की संख्या 1034 हैं।) सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि प्रथम छत्तीस दशकों में नौ तक के स्कन्धों की, सैंतीस से लेकर नवासी तक के तिरपन दशकों में दशम स्कन्धों की और शेष दशकों में ग्यारहवें स्कन्ध की कथा संग्रहीत है। बारहवें स्कन्ध से सिर्फ एक ही वृत्त लिया है- मार्काण्डेय का उपाख्यान। सौवें दशक में भगवान का रूप वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना द्वारा भट्टतिरि ने अपने लिए वातरोग से विमुक्ति एवं "आयुरारोग्यसौख्य" प्राप्त किया। साथ साथ इस लक्ष्य की ओर मार्ग दर्शन भी कराया। 'भागवत्' ग्रन्थ से भगवान की आराधना कई प्रकार से की जा रही है-- निश्चित आवृत्ति से उसे पढ़कर समाप्त करना, सप्ताह पारायण, दूसरों को पढ़कर व्याख्या द्वारा समझा देना आदि आदि। भट्टतिरि ने तो यहाँ अपने लिए एक नये मार्ग का आविष्कार किया- गुरुवायूर के मन्दिर में भगवान के समीप, सामने, अभिमुख बैठकर भागवत का संग्रह भगवान ही को सुना देना और इसके ज़रिए रोग का निवारण तथा भक्ति का संवर्धन संपादित करना।

"व्यासोक्तिसारमयभागवतोपगीता,

क्लेशान विधूय कुरु भक्तिभरं,महात्मन।(ना.द.-90,श्लोक-11)

महाभागवत के बारहवें स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में पुराणों के नाम तथा प्रत्येक पुराण की श्लोक संख्या सूत ने दी है। सभी पुराणों को मिलाकर कुल चार लाख श्लोक

हैं जिन में भागवत की श्लोक संख्या अठारह हज़ार हैं। भट्टतिरि ने कीर्तन सेवा को ही अपने रोग-शमन के उपाय के

रूप में ग्रहण किया। क्यों कि कलिकाल में नाम संकीर्तन ही उपासना का रूप है। भट्टतिरि के इस स्तोत्र-ग्रन्थ में शरणागति की सभी विधायें आयी हैं-जैसे

"अनुकूलस्य संकल्पं प्रतिकूलस्य वर्जनम्,

रक्षिष्यतीति विश्वासो तथा गोप्तृत्ववर्णनम,

आत्मनिक्षेप कार्पण्य षड्विधा शरणागति:।"

विषय और विधा का भट्टतिरि द्वारा यों निर्णय हुआ, कथा भगवान की और रचना स्तोत्र-पद्धति पर आधारित। कथा का विस्तार श्रृंखला-बद्ध हो अथवा मुक्तक-का-सा हो- यही समस्या थी। श्रृंखला -बद्ध कथा-कथन में वक्ता और श्रोता भेदानिष्टता नहीं आ पाती। (नारायणीयम् में वक्ता कवि है और श्रोता स्वयं भगवान।) हर दशक के अन्त में भगवान की संबोधना कर जो विशेष प्रार्थना की है, वह प्रार्थना और अनेकानेक श्लोकों के बीच का भगवान से यह कथन कि आपने ऐसे किया, आपने वैसे किया, इस घनिष्टता को बनाये रखता है। 'नारायणीयम' के दशकों के बीच मुक्तकों का सा पृथकत्व है और साथ ही साथ प्रबन्ध काव्य की प्रवाहमयता भी। दशकों के अन्त में किया गया निवेदन प्रत्येक दशक को कथा-प्रवाह के विच्छेद द्वारा, दूसरों से (याने आगे-पीछे के दशकों से) अलग कर देता है और एक ही महापुरुष की लीलाओं का सारे ग्रन्थ में वर्णन है, इससे उसमें पूर्वापर संबन्ध भी जुडा रहता है। अर्थात् नारायणीयम् एक ओर प्रबन्ध काव्य है और दूसरी ओर मुक्तक। उसके दशकांत का निवेदन वही काम करता है जो नाटकों में पट-परिवर्तन करता है।

श्रीमद् भागवत् एक बृहद्-ग्रन्थ है-उसका आकार एक वट-वृक्ष सा है। कथानक अनेक कथाओं- उपकथाओं में छितरा पडा है, जैसे वटवृक्ष अपनी शाखाओं-उपशाखाओं से एक विस्तृत तल के ऊपर छाये हुए खडे हैं।

भागवत् का प्रथम स्कन्ध भागवत की पीठिका है तो नारायणीयम् की पीठिका है इसके दशकत्रय। इन दोनों में सबसे पहले आर्तभक्त को ही प्रस्तुत किया हैं। अठारह हज़ार श्लोकों को एक हज़ार श्लोकों में कैसे संग्रहीत किया जाय? और संग्रह भी ऐसा हो कि मूल-स्रोत का

एक भी प्रधान अंग न ही छुट जाये। कार्य कठिन है ही, लेकिन भट्टतिरि ने उस केलिए निम्नांकित सफल उपायों को अपना लिया है।

4.2.1.1.छंदग्रहण- पुराणों में अनुष्टुप छंदों का प्रयोग ही अधिक देखा जाता है। भागवत् की भी यही बात है। लेकिन भट्टतिरि ने उसकी जगह अधिक वर्ण वाले छंदों-जैसे-वसंततिलक, मालिनी, मंदाक्रांता, पृथ्वी, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा- आदि का प्रयोग किया। रासलीला के संदर्भ में कुसुम मंजरी का भी प्रयोग हुआ है। इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्था, उपजाति, आदि भी स्वीकारे हैं। दीर्घ छंदों के ग्रहण के फल-स्वरूप संग्रहण का कार्य सरल हुआ है। और कम संख्या के दृढ़-बद्ध श्लोकों में अनेक घटनाओं का निवेश संभव हो पाया है।

4.2.1.2.लंबे लंबे समस्त पदों का प्रयोग- अधिक वर्णवाले छंद जब स्वीकृत हुए तब लंबे-लंबे समस्त पदों का प्रयोग भी सरल हो गया। कुछ समस्त पद इतने लंबे है कि दो दो पादों तक बढ़ गया है।

4.2.1.3.स्तुतियों का त्याग- भागवत् के कई प्रकरणों में लंबे-लंबे स्तवन पाये जाते हैं। भट्टतिरि ने इन सब को छोड दिया और या तो संकेत मात्र किया या दो पादों या श्लोकों में उनका संग्रह किया।

4.2.1.4. वृत्तनिराकरण- भट्टतिरी सगुण भक्ति के समर्थक थे। अत: उन्होंने उन सभी वृत्तों को छोड किया जिनका संबन्ध इससे न हो- जैसे जड-भरत की कथा (स्कन्ध-5), पुरंजनोपाख्यान (स्कन्ध-4), आदि आदि। भगवान की अवतार-लीलाओं का वर्णन ही मुख्यतया उनका लक्ष्य था। इसलिए उन्होंने सभी अवतारों को ले

लिया। भगवान की इन अवतार-लीलाओं का रंगमंच है प्रपंच। इसलिए प्रपंच रचना एवं भूविभागों को वे छोड नहीं सकते थे। इसी के कारण सारी सृष्टि - प्रक्रिया का वर्णन नारायणीयम् में आया है। यहाँ भी भूगोल-विवरण में उपास्य-देवता-प्रदर्शन- मात्र किया है (दशक-21) वैसे उन्होंने मनुओं, मन्वन्तरों तथा वंशावलियों का, जहाँ आवश्यकता महसूस हुई वहाँ संकेत मात्र किया और विवरण छोड दिया। प्रपंच के स्वरूप- ज्ञान के लिए तत्वों का बोध अपेक्षित था। इसलिए उन्होंने कपिलोपदेश (सांख्य दर्शन) के लिए एक पूरा दशक रखा। भट्टतिरि का उपास्यदेव गुरुवायूर के भगवान श्रीकृष्ण है। अत: कृष्णावतार एवं कृष्ण की लीलाओं के लिए उन्होंने कई दशक आरक्षित किये--ग्रन्थ का लगभग आधा भाग (दशक 37 से लेकर दशक 90 तक) दशम की कथा का वर्णन किया है। भागवत् का ग्यारहवाँ स्कन्ध लौकिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें वर्णाश्रमधर्मों का विवरण और अवधूत, चौबीस गुरुगण, हंसोपदेश, भक्ति की व्याख्या, नवयोगियों का उपदेश आदि उपाख्यान है,

भट्टतिरि ने इस स्कन्ध के तत्वों को आत्मसात किया और अपने अनुभव, प्रार्थना, निष्कर्ष, निर्णय, निगमन आदि के रूप में प्रस्तुत किया। बारहवें स्कन्ध के बहुत सारे अध्यायों को उन्होंने छोड दिया। इसका न कृष्णावतार से संबन्ध था न भक्ति तत्वों के विस्तार से। मुख्य कथावस्तु है यादवों एवं द्वारिका का नाश और भगवान का स्वर्गारोहण- अर्थात अवतार का संवरण। मार्काण्डेय कथा उन्होंने अवश्य ली है।

यहाँ एक समस्या उपस्थित हो जाती है-- यदुकुल नाश एवं भगवान के स्वर्गारोहण को उन्होंने क्यों छोड दिया? कारण तो स्पष्ट है। उन्होंने कृष्ण तथा यादवों को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहूँचाकर वहीं छोड दिया है। इसके दो कारण हो सकते हैं। भगवान की संबोधना करते हुए अपना वक्तव्य भट्टतिरि भगवान को सीधे सुना देते हैं। लौकिक दृष्टि से यह उचित नहीं कि किसी मनुष्य को अपना नाश या अध:पतन सुना दें। दूसरे

आध्यात्मिक दृष्टि से भी यह ठीक नहीं; क्यों कि कृष्ण उनके उपास्य देव है, और कृष्ण, विष्णु, एवं परमतत्व में उनके लिए कोई भेद नहीं हैं। उनकी दृष्टि में भगवान अपने कृष्ण रूप में गुरुवायूर मन्दिर में विराजमान है--

"सान्द्रानन्दावबोधात्मकमनुपमितम्

ब्रह्मतत्वं तत्तावद् भाति साक्षात् गुरुपवनपुरे;

हन्त! भाग्यम् जनानाम्(1-1)"

"अग्रेपश्यामि तेजो----------(100-1)"

"नम्राणाम् सन्निधत्ते----------(1-8)"

और वे चाहते हैं कि सदा के लिए विराजमान रहें--भक्तों के अर्थ विशिष्ट पारिजात द्रुम बने हुए। तब यह कैसे संभव है कि भगवान अपनी अवतार-लीलाओं का संवरण कर वैकुण्ठ के लिए विदा हो जाएँ? आश्रित आश्रयदाता का तिरोधान नहीं चाहता। इन कारणों से भट्टतिरि ने यदुकुल नाश एवं भगवान का देहत्याग छोड दिया।

दशक निन्यानबे की वेदार्थ विचार पर आधारित, विष्णु स्तुति भागवत् में नहीं है। दशम की 'श्रुतिगीता' (अध्याय -87) मुख्य तथा निर्गुण ब्रह्म परक है। भट्टतिरि को इस दशक के लिए प्रेरणा वेदों की विष्णु परक सूक्तियों से मिली, क्यों कि वेदों का मंत्र-पाठ तत्तत्

देवताओं की संबोधना में किया जाता है। और उन्होंने उन सूक्तियों को निचोडकर सार इस दशक में रखा है।

129

भट्टतिरि की वस्तु-चयन कुशलता का एक प्रमाण बिखरे हुए कथांशों को एकत्र प्रस्तुत करने में भी प्रकट है। उदाहरण के लिए रुक्मिणी गर्व-शमन को उन्होंने विवाह के ही दशक में रखा है। मूल ग्रन्थ में विवाह और गर्व-शमन की घटनाओं के वर्णन में छह अध्यायों का अन्तर है। इसी तरह एकादशवें स्कन्ध के चौथे अध्याय में नारायण ऋषि द्वारा काम की पराजय का वृत्त आता है। नर-नारायण के अवतार की कथा चौथे स्कन्ध के प्रथम अध्याय में वर्णित है। भट्टतिरि ने दोनों को मिलाकर और सहस्र-कवच की कथा 'भारत' से लेकर तीनों घटनाओं का वर्णन सोलहवें दशक में एक साथ किया।

नारायणीयम की रचना के लिए भट्टतिरि ने भागवत् के अलावा 'महाभारत', 'ब्रह्मांड पुराण', 'विष्णु पुराण' आदि अन्य ग्रन्थों को भी स्रोत के रूप में यथावसर स्वीकार किया है।

भट्टतिरि के स्तोत्रों में यश एवं प्रचार से प्रथम गणनीय है 'नारायणीयम्'। भट्टतिरि की सर्ग प्रतिभा एवं कविता गुण के कारण हम निस्संशय कह सकते हैं कि नारायणीयम् स्तोत्र एक स्वतंत्र रचना है। इसमें उन्होंने भक्ति की महत्ता के बारे में प्रकाश डाला है---

"निष्कामम् नियतस्वधर्मचरणं यल् कर्मयोगाभिधं

तद्दूरेत्यफलं यदौपनिषदज्ञानोपलभ्यं पुन

तत्वव्यक्तताया सुदुर्गमतरं चित्तस्य तस्माद्विभो

तल्प्रेमात्मकभक्तिरेव सततं स्वादीयसी श्रेयसी।(दशक-2)

अर्थात् कर्मयोग में फल आसानी से नहीं मिलता, ज्ञानयोग सब से दुर्गम है, भगवद् प्रेमस्वरूप भक्ति ही हृदयंगम है।

भक्तों व सचेतसों (सज्जन लोग) को समान रूप से रसमग्न कराने का गुण पूर्णतया नारायणीयम में निहित है। नारायणीयम की पूर्ति से ही भट्टतिरि को "आयुरारोग्यसौख्य" की प्राप्ति हुई है। भगवद् अनुग्रह से वातपीडा के शमन के बारे में उन्होंने एक पद्य रचा है--

"पूर्वं तावदयी त्वदंघ्रिरजसां योगे रजोहीनता

लोकस्येति विचित्रमद्य तु पुनश्चित्रांतरं दृश्यते

वातै: पांसुनिरास एव हि परं दृष्टस्त्वदीया: पुन:

पादांभोरूहरेणवो विदधते वातस्य विद्रावणं।

नारायणीयम का रचना-शिल्प, अप्रस्तुत विधान, भाव शिल्प, शब्द-विधान, अर्थ-विधान, आदि के बारे में सोचने पर भी हम उन महान सर्ग प्रतिभा के आगे मनसा, वाचा, कर्मणा नतमस्तक हो जाएँगे।

निष्कर्ष :

केरल के भक्ति साहित्य को संस्कृत भाषा के माध्यम से संपन्न बनाने का श्रेय श्री मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरि को ही है। उनका जन्म सन् 1560 ई. को निला नदी के आसपास कुरुंपत्तूर नामक गाँव में हुआ। शैशव की शिक्षा घर पर ही हुआ था। पिता मातृदत्त और बडे भाई दामोदर से भट्टतिरि ने वेद, संस्कृत, तर्क-शास्त्र, मीमांसा आदि का अध्ययन किया। फिर अच्युत पिषारोटी नामक पंडित व आचार्य से व्याकरण आदि का अध्ययन किया। अच्युत पिषारोटि का शिष्यत्व भट्टतिरि के जीवन का एक महान मोड था।

पिषारोटि और भट्टतिरि के बीच का गुरु-शिष्य संबन्ध अत्यन्त गहन था। एक बार पिषारोटि वातरोग से पीडित होकर शय्यावलंबी हो गये तो उनके रोग को कर्म-विपाक-दान के रूप में भट्टतिरि ले लिया। इसके फलस्वरूप पिषारोटि रोगविमुक्त हो गये और भट्टतिरि को वातरोग पीडा हुई। श्रीगुरुवायूरप्पन के भजन से वातरोग से मुक्ति संभव है, ऐसा विश्वास है। इसलिए वे भजन के लिए गुरुवायूर मन्दिर आ पहूँचे। वहाँ मन्दिर में गुरुवायूरप्पन के पास बैठकर उन्होंने 'नारायणीयम' की रचना की। एक दिन एक दशक, वैसे सौ दिन सौवाँ दशक तक वे 'नारायणीयम' की रचना करते रहे। श्रीमद् भागवत रूपी बृहत् पुराण के सार मात्र ग्रहण करके

तथा उसमें निहित भक्ति भाव को तनिक भी छुटे बिना उन्होंने 'नारायणीयम' की रचना की। सौवाँ दिन भट्टतिरि ने पूर्ण रूप से "आयुरारोग्यसौख्यम" प्राप्त की।

भट्टतिरि महान पंडित एवं साहित्य सृजन में दक्ष थे। 'नारायणीयम' के अलावा उन्होंने माटराज प्रशस्ति, प्रक्रिया सर्वस्वम्, अपाणिनीयप्रामाण्यसाधनम्, शैलाधीश्रर प्रशस्ति आदि अनेक रचनाएँ की है। पांडित्य के साथ साथ नर्म बोध भी उनकी रचनाओं की विशेषता है। रोग मुक्ति के बाद वे केरल के विभिन्न राजाओं के यहाँ रहकर अपने पांडित्य तथा साहित्य क्षमता का प्रमाण देता रहे। अपने जीवन के अन्तिम काल उन्होंने मुक्कोला अथवा मुक्तिस्थल नामक जगह के देवी मन्दिर में ही बिताये थे। उनका अन्त अनायास एवं प्रशांत था।

'नारायणीयम्' वातरोग मुक्ति हेतु रचे गये स्तोत्र ग्रन्थ है। इसका आधार श्रीमद् भागवत है। इसके अलावा ब्रह्मांड पुराण, विष्णु पुराण, महाभारत आदि को भी भट्टतिरि ने आधार स्वरूप स्वीकार किया है। अन्य ग्रन्थों से 'नारायणीयम' की यही विशेषता है कि इसमें कथाकथन भगवान की संबोधना करते हुए आगे बढ़ा है। भट्टतिरि ने भगवान की कथा स्तोत्र-पद्धति के

आधार पर की है। अठारह हज़ार श्लोकों वाला बृहत ग्रन्थ है श्रीमद् भागवत। इसका संग्रहन भट्टतिरि ने एक हज़ार श्लोकों द्वारा किया है, वह भी मूल-स्रोत का एक भी प्रधान अंग छुट जाये बिना। 'नारायणीयम्' भक्ति संवर्धक रचना है। इसमें भक्ति की महत्ता के बारे में प्रकाश डाला है। भट्टतिरि कहते हैं कि भगवद् प्रेम स्वरूप भक्ति ही हृदयंगम है। उन्होंने अपनी रचना में प्रेम भक्ति के सभी अंगों को स्वीकार किया है। आर्त होकर उन्होंने प्रारंभ किया, सख्य भाव से आगे बढ़ा और माधुर्य प्रेम की परिसमाप्ति तक पहूँचते उन्होंने भगवद् साक्षात्कार प्राप्त किया तथा उन्हें रोगमुक्ति भी हुई। इस रचना की फलश्रुति भी ऐसी है कि इस कृति के रचनाकार को ही नहीं, जो इसे भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं और जो उसे भक्ति से सुनते हैं उनको भी 'आयुरारोग्यसौख्यम्' प्राप्त हो जाएगा।

संदर्भ सूची-

1.के.वासुदेव मूस्सत्-मेल्पत्तूर भट्टतिरि. सरस्वती विलासम बुक डिप्पो,त्रिश्शूर

2.ओतिक्कन-माने वेद पंडित। षोडशादि क्रियायें करवाना,वेदों का अध्यापन करना आदि उनका काम है। वे पंडित एवं आचार्य है।

3.पिषारोटि- एक जाति का नाम है जो मंदिरों में भगवान की पूजा केलिए फूल,माला आदि इकट्ठा करते है।

4.चाक्कियार-एक जाति है,जो मंदिरों में पुराणों के हास्याभिनय करते है, जिसका नाम कूत्तु है।

5. नारायणीयम-द.1.श्लोक-2.

6.मेल्पुत्तूर नारायणभट्टतिरि के मुक्तक।

7.उल्लूर एस परमेश्वर अय्यर-केरल साहित्य चरित्रम- केरल साहित्य अकादमी।

8.के.वासुदेव मूस्सत्- मेल्पुत्तूर भट्टतिरि।

Vanaja K.G “A comparative study of devotional love in sursagar and narayaneeyam” Thesis. Department of Hindi, Govt.Arts and Science College, Meenchanda,Calicut., University of Calicut, 2016.

अध्याय-5

सूरसागर और नारायणीयम् में प्रेम भक्ति:एक तुलनात्मक अध्ययन

5.2. प्रेम भक्ति

व्यक्ति की अन्तस्सत्ता में स्थित शेष सजीव सृष्टि के साथ रागात्मक ऐक्य ही चेतना के स्तर पर व्यक्त होकर प्रेम का रूप धारण करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'वासनात्मक अवस्था से भावात्मक में आया हुआ राग ही वास्तव में प्रेम या अनुराग है।'(1) इससे यह स्पष्ट है कि प्रेम राग का ही विकसित रूप है। किन्तु व्यक्ति का शेष जगत् के साथ प्रकट भावात्मक संबन्ध प्रेम के कारण संभव होता है। इसलिए प्रेम को मूल मानवीय भाव कहा गया है। प्रेम ही वह मूल भाव है जिसके कारण मनुष्य में मनुष्यता सुरक्षित रहती है। प्रेम के कारण व्यक्ति का चित्त उदार होता है और करुणा, दया, सहानुभूति आदि की ओर प्रेरित और प्रवृत्त होता है। प्रेम जीवदायिनी शक्ति है जो व्यक्ति और समाज के मानसिक और नैतिक विकास के लिए अनिवार्य है। व्यक्ति के मन में प्रेम का उदय होते ही द्वेष का शमन हो जाता है, हिंसा की प्रवृत्ति संयमित हो जाती है और आत्म शक्ति सर्जनोन्मुख हो जाती है।

प्रेम दो भावों के बीच गतिशील होता है-आनन्द और मंगलकामना। प्रेमी को प्रेम से आनन्द की अनुभूति होती है और प्रेमी प्रिय की मंगल कामना में प्रवृत्त होता है। प्रेम के मंगल विधायक पक्ष का लोक जीवन में समाज के अस्तित्व के लिए विशेष महत्व है। मानवीय संबन्धों में प्रेम के दो व्यक्त रूप हैं -- वात्सल्य और दांपत्य। वात्सल्य में यद्यपि बालक के सौन्दर्य की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द निहित होता है, किन्तु सौन्दर्य-विहीन

बालक के माता-पिता में भी वात्सल्य-स्नेह का अभाव नहीं होता। वात्सल्य में केवल मंगलकामना ही प्रधान नहीं होती हैं, किन्तु उसका अत्यन्त घनीभूत रूप अवश्य वर्तमान होता है। भारतीय भक्ति-दर्शन और काव्य में वात्सल्य के दो रूप हैं। एक में भक्त बालक बनकर भगवान के वात्सल्य-स्नेह की कामना करता है तथा दूसरे में वह (भक्त) बालक रूप भगवान पर स्वयं वात्सल्य-स्नेह की वर्षा करता है। प्रेम में अपने अहं का विसर्जन और दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति आवश्यक है। इसमें मानसिक और आत्मिक स्तर पर समानता का बोध आवश्यक है, नहीं तो प्रेम दासता में बदल जाता है।

प्रेम शक्ति का स्रोत है, लेकिन प्रेम से उद्भूत शक्ति जब व्यक्ति को लोकसंग्रह कार्य में प्रवृत्त करती है तभी उसका उज्वल रूप प्रकट होता है। ईश्वरीय प्रेम केलिए मानवीय प्रेम की अनुभूति और उसके स्वरूप का बोध आवश्यक है। व्यक्ति, समाज और संपूर्ण सृष्टि के साथ व्यक्त लौकिक प्रेम ही ईश्वरोन्मुख होकर भक्ति का रूप धारण कर लेता है। प्रेम में जोडने और मिलाने की शक्ति निहित है और यही शक्ति भगवान और भक्त के बीच सक्रिय होती है। ईश्वरीय प्रेम में भक्त भगवान के साथ संयुक्त होकर पूर्ण हो जाता है। ईश्वर असीम ,अनन्त, और सर्वव्याप्त है, व्यक्ति ससीम और लोकबद्ध है। लेकिन असीम और ससीम ,सर्वोच्च सत्ता और आत्मा का योग प्रेम से ही संभव है। प्रेम के लिए द्वैत आवश्यक है। प्रेमी प्रिय में अपनी आत्मा को ही खोजता और पाता है। प्रेमानन्द में प्रेमी अपनी आत्मा का प्रिय की आत्मा से संयोग करता है। आत्मा प्रेम के सतत् विकास पथ पर परमात्मा के संयोग की कामना से गतिमान है। टैगोर ने लिखा है कि मानव आत्मा नियम से प्रेम की ओर, अनुशासन से मुक्ति की ओर और नैतिक स्तर से आध्यात्मिक स्तर की ओर सदा गतिमान है।(2) ईश्वरोन्मुख प्रेम वैयक्तिक प्रेम से निर्वैयक्तिक प्रेम

होता है, इसमें आत्म बोध और आत्म-विसर्जन दोनों का योग होता है। वैयक्तिक प्रेम भी ईश्वरोन्मुख होकर विश्व-प्रेम बन जाता है, क्योंकि प्रेम संपूर्ण विश्व में अपने प्रिय की सत्ता की अनुभूति करता है।

भक्ति-दर्शन के अनुसार माधुर्य-भाव और रति के काम और प्रेम में स्वरूप-गत भेद नहीं है, केवल विषय मात्र का भेद है। चैतन्य के मतानुसार आत्मेन्द्रिय सुख कामना काम है और कृष्ण सुख कामना प्रेम। व्रज की गोपियों की प्रीति प्रियानुकूल तात्पर्य या कृष्ण सुख विषयक होने के कारण विशुद्ध प्रेम है। प्रेम नि:स्वार्थ होता है, उसमें समर्पण का भाव प्रधान है। प्रेम सदा वृद्धिमान ,स्थायी और उत्कर्षित होता है। प्रेम का प्रतिफल आत्मानन्द में होता है।

सगुण भक्ति काव्य में विशेषकर कृष्ण भक्ति काव्य में प्रेम का लीलात्मक स्वरूप होता है। इसके भाव और रूप को माधुर्य कहा जाता है और यही सान्द्र माधुर्य भाव प्रेम में परिणत हो जाता है। प्रेम के लीलात्मक रूप की अन्त :प्रकृति मानवीय प्रेमानुभूति के समान है। प्रेमभक्ति का आधार मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति है। यहाँ सगुण स्वरूप कृष्ण ही भक्तों के दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य आदि भावों के आलंबन है और

यही उनकी लीला की अनुभूति का विषय है। आचार्य शुक्लजी ने भक्ति मार्ग को 'शुद्ध भाव मार्ग' या प्रेम मार्ग कहा है तथा भक्त की भाव दशा को काव्य की रस दशा के समान भी कहा है।(3)

प्रेम भक्ति निर्गुण, निस्वार्थ, अहैतुक, प्रतिक्षण वर्धमान, अत्यन्त सूक्ष्म और अनुभवैकवेद्य है। वैधी भक्ति का पर्यवसान

रागात्मिका या प्रेम भक्ति में है और रागात्मिका भक्ति की पूर्णता आत्म-समर्पण में। गोपियों ने वैधी भक्ति का ही अनुष्ठान किया था, परन्तु उनका हृदय रागात्मिका भक्ति से ही ओतप्रोत था। भगवान की चीर-हरण लीला और रासलीला इस पूर्ण समर्पण का ही रूप है।

5.1.1. प्रेम भक्ति :-परिभाषा:

प्रेम भक्ति की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने यों दी हैं - शांडिल्य के अनुसार-

"सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे।।"(4)

वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेम है।

नारद ने कहा-

1."सा त्वस्मिन परम प्रेमरूपा।

2.अमृत स्वरूपा च।

3.यं लब्ध्वा पुमान सिद्धो भवति

अमृतो भवति तृप्तो भवति।

4.यत् प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति।

न शोचति न द्वेष्टि न रमते।

नोत्साही भवति।।

5. यत् ज्ञात्वा मत्तो भवति।

स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।।"(5)

(भक्ति ईश्वर के प्रति परम-प्रेम रूपा है, और अमृत-स्वरूप भी है। जिस परम प्रेम रूपा और अमृत-स्वरूप भक्ति को पाकर मानव तृप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है, और अमर हो जाता है, उस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, और न किसी वस्तु में आसक्त होता है, विषय भोगों के प्रति उसका कोई उत्साह नहीं रहता है, और आत्मानन्द के साक्षात्कार से वह संसार के विषयों से निरपेक्ष होकर मस्त रहता है।)

भागवतकार ने कहा-

"स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्य प्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति।।"(6)

(मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसके द्वारा भगवान कृष्ण में भक्ति हो; भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।)

जीव गोस्वामी अपने "भक्ति रसामृत सिन्धु" में कहते हैं-

"तत्र विषयिण: स्वाभाविको विषयसंसर्गोच्छामय:

प्रेमराग: यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ तादृशा।

एवात्र भक्तस्य श्री भगवत्यापि राग इत्युच्यते।"(7)

(जैसे विषयी पुरुषों को स्वभावत: ही विषय संसर्ग की इच्छा होती है -जैसे आँखों से सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, कानों से मधुर राग के प्रति खिंचाव, उसी प्रकार भक्त को जब श्री भगवान का आकर्षण या तृष्णा उत्पन्न हो जाती है तो उसे 'रागानुगा' या 'प्रेम भक्ति' कहते हैं।)

श्रीरामकृष्ण परमहंस ने प्रेम भक्ति के बारे में बहुत कुछ कहा है-

1."भगवद् प्रेम रूपी सुधासागर में डूबने से मानव मरता नहीं, परन्तु अमर बन जाता है।"(8)

2."प्रेम भक्ति- माँ का अपने सन्तान के प्रति और पत्नि का अपने पति के प्रति उत्पन्न प्रेम के जैसे हैं।"

3."प्रेम भक्ति का और एक नाम है- रागभक्ति। प्रेम और अनुराग के बिना ईश्वर प्राप्ति संभव नहीं। इसका उत्तम उदाहरण प्रह्लाद है। शैशव से ही उनके मन में नारायण के प्रति राग भक्ति है।"

4."भजनानन्द, ब्रह्मानन्द- ये आनन्द प्रेम रूपी सुरा है। इसे पीने पर मानव उन्मत्त हो जाता है। मानव जीवन का उद्देश्य ही ईश्वर प्रेम है, ईश्वर से संबन्ध है।"(9)

भक्ति की कोटियों में प्रेम भक्ति का सर्वोच्च स्थान है। शांडिल्य और नारद के अनुसार प्रेम भक्ति ईश्वर की ओर निर्बाध गति से होनेवाले मन का प्रवाह है। नारायण के सिवा और कोई नहीं, और कुछ भी नहीं, ऐसे हृदय का भाग है भगवद् प्रेम। यही स्थिति अनन्य प्रेम या भक्ति है। तो भागवतकार निष्काम भाव से भगवान कृष्ण में अपने को समर्पण करके परम आनन्द प्राप्त करने को प्रेम भक्ति समझते हैं।

5.1.2 प्रेम भक्ति की विशेषताएँ

भक्ति की विशेषता के बारे में विभिन्न आचार्यों ने अपना अपना मत व्यक्त किया है--

नारद-भक्ति-सूत्र में सूत्र 7 से 14 तक प्रेम भक्ति की विशेषता का वर्णन है।

"सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।"(10)

(पूर्ण त्याग प्रेम भक्ति का स्वभाव है। इसलिए इसमें किसी भी कामना का स्पर्श नहीं पडता।)

प्रेम रूपा भक्ति में अनन्यता का भाव निहित रहता है। यह भक्ति कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों से ही श्रेष्ठ है। भागवत् में कृष्ण कहते है--"योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय,

तप ,और त्याग मुझे इतना प्रसन्न नहीं कर सकते, जितना मुझे मेरी दृढ़ भक्ति प्रसन्न करती है। मेरी भक्ति चांडाल आदि को भी पवित्र कर देती है।"(11)

गीता में भी कृष्ण अर्जुन से कहते है-"हे अर्जुन, जैसा तुमने मुझे देखा है, वैसा मैं वेद, तप, दान, यज्ञ आदि से भी नहीं देखा जा सकता। हे अर्जुन, अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरा इस प्रकार देखा जाना, मुझे तत्व से जानना और मुझमें प्रवेश पाना संभव है।"(12)

अत: निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि प्रेम भक्ति के उत्पन्न होने से भक्त पाप-पुण्य को भूल जाता है। शास्त्र-विधि-निषेध आदि से मन छुट जाता है। राग-भक्ति या प्रेम-भक्ति ईश्वर तक पहूँचने

में मार्ग सहज बना देती है। प्रेम भक्ति नित्यानित्य विवेचन उत्पन्न करके भगवद् अनुभूति प्रदान करती है, तथा भक्त को भगवद्- दर्शन प्राप्त होते हैं।

5.1.3.प्रेम भक्ति का लक्षण

विभिन्न आचार्यों ने भक्ति के लक्षण के बारे में बताया है।

पराशर पुत्र वेद व्यास ने कहा-"पूजादिष्वनुराग इति पराशर्या:"।

(अथाह प्रेम या दृढ़ आसक्ति के साथ करनेवाले भगवद् पूजा ही भक्ति है।)

गर्गाचार्य के मत में -"कथादिष्विति गर्ग:"।

(भगवद् महिमा को प्रकीर्तित कथाओं में जो अनुराग या प्रेम है, यही प्रेम- भक्ति है।)

शांडिल्य कहते है-"आत्मरत्यविरोधनेति शांडिल्य:"।

(निर्बाध रूप से आत्मानन्द में रमना ही भक्ति है।)

नारद का मत है-" नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता।

तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।"

(सभी कर्मों को पूर्ण रूप से भगवद्-समर्पण के साथ करना और यदि कभी भगवद्-विस्मृति हो जाय तो असहनीय पीडा का अनुभव होना ही भक्ति है।)

इसकेलिए नारद वृन्दावन के गोपियों को उदाहरण स्वरूप बताते है।'यथा व्रजगोपिकानां"।'

नारद भक्ति की परिभाषा में--वृन्दावन की गोपियों का असीम, निशंक, एवं दिल भरे परम प्रेम जो भगवान श्रीकृष्ण के प्रति है-- इसे ही प्रस्तुत करते हैं। गोपियों ने अपने प्रेम भाजन भगवान के चरण-कमलों में देह, मन, और बुद्धि तथा लौकिक एवं अलौकिक सुखानुभूतियों को पूर्ण रूप से समर्पित किया है।

प्रेम भक्ति के लक्षण के रूप में नारद परम- प्रेम- स्वरूप भक्ति के विविध भाव के बारे में कहते हैं। वे कहते हैं-

1."अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।"

(भगवद् प्रेम भक्ति का सहज भाव अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय है।)

2."मूकास्वादनवत्"।

(यह गूँगे के गुड के (मधुर वस्तु) आस्वादन जैसे है।)

3."प्रकाशते क्वापि पात्रे ।"

(यह दिव्य प्रेम भक्ति अत्यन्त दुर्लभ होकर ही दुर्लभ पात्रों में ही प्रकाशित होते है।)

4."गुणरहितम् कामनारहितम् प्रतिक्षणनवर्धमानं

अविच्छिन्नम् सूक्ष्मतरम् अनुभवरूपम्।"

(यह पवित्र प्रेम भक्ति गुण रहित है, किसी भी कामना से रहित है, सदा वर्धित होनेवाली है, निरन्तर, अत्यन्त सूक्ष्म और एकदम उत्पन्न अनुभूति से युक्त है।)

5."तत् प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृण्वति

तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।।"(13)

(इस उत्कृष्ट भगवद् प्रेम भक्ति भाव को प्राप्त भक्त सिर्फ वही देखता है , वही सुनता है, वही सोचता है, उसके बारे में ही बोलता है, और सिर्फ उसी का ही ध्यान करता है।)

5.1.4.प्रेम भक्ति प्राप्त भक्त का लक्षण

नारद भक्ति सूत्र, श्रीमद् भगवत् गीता आदि ग्रन्थों में प्रेम भक्ति प्राप्त भक्तों के बारे में बताये है। नारद भक्ति सूत्र के 67 से 69 तक के सूत्र तथा 70 से 73 तक के सूत्र में प्रेम भक्त की महिमा तथा लक्षण का विवरण है। इसमें नारद जी कहते है कि प्रेम भक्ति के परम पद तक जो पहूँचा है वही श्रेष्ठ है, यथार्थ भक्त है।

"भक्ता एकान्तिनो मुख्या:।"(14)

ऐसे भक्त रुग्ध कण्ठ से, पुलकित शरीर से, धारंधार प्रवाहित अश्रुओं से, अपने अनुभव के बारे में बताते ही रहते हैं। ऐसे उत्तम भक्त अपने कुल को ही नहीं इस पृथ्वी को भी पवित्र बना देते हैं।

"कण्ठावरोधरोमांचाश्रुभि:

परस्परं लपमाना: पावयन्ति

कुलानि पृथिविं 'च'।(15)

ये भक्त पवित्र तीर्थों को और भी पवित्र बना देते है , कर्मों को और श्रेष्ठ कर्म बनाते है तथा शास्त्रों को अधिक विशिष्ट बनाते है।

प्रेम भक्त "तन्मया:" याने पूर्ण रूप से भगवद् विलीन है।(16)

ये भगवान के प्रतिपुरुष बनकर ही संसार में घूमते फिरते हैं।

जब प्रेम भक्त गद्गद् कण्ठ से, पुलकित होकर, नेत्रों से आनन्दाश्रु बहाते हुए परमानन्द में लीन हो जाता है तब उसके पितृ-पितामह आह्लाद चित्त बन जाते है, देवता लोग नृत्य करते हैं और यह धरती ही सनाथ बन जाती है।

"मोदन्ते पितरौ नृत्यन्ति देवता:

सनाथा चेयं भूरभवति।'(17)

इन भक्तों में जाति, विद्या, संस्कृति, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद-भाव नहीं रहते। क्यों कि ये भक्त सब में अपने आत्म स्वरूप नारायण को ही देखते हैं।

"नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादि भेद:"।

"यस्तदीया:"(18)

भगवद् गीता में उत्तम भक्त याने प्रेम भक्त के बारे में कहते है- “उत्तम भक्त अथवा प्रेम भक्त अविच्छिन्न धारा से दूध स्रावित करनेवाली गाय के समान है।” (19) (गीता-6-30.)

श्रीरामकृष्ण परमहंस के मत में प्रेम भक्त अतीव सरल होते हैं। भगवद् भक्ति की पराकाष्ठा में प्रेम भक्त निराकार ब्रह्म को भी साकार देखते हैं। ये हरिपाद पद्म के मकरन्द के सिवा और किसी में आसक्त नहीं।(20)

5.1.5.भक्ति का फल या प्रयोजन

प्रेम भक्ति के फल के बारे में नारद जी ने अपने भक्ति सूत्र के नवाँ अध्याय के भाग-1 में बताये है। वे कहते है—

"संकीर्त्यमान: शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान।"(21)

जब प्रेम भक्त अपने भगवान की स्तुति करते है तब वे (भगवान) प्रत्यक्ष हो जाते हैं और अपने स्वरूप दर्शन अपने भक्त को अनुभववेद्य कराते भी है। अर्थात् भगवान का साक्षात्कार प्रेम भक्त प्राप्त कर सकते हैं।

"त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी।"(22)

भक्ति साधन के तीन साधनों में भक्ति ही सब से श्रेष्ठ है।

नारद के मत में शुद्ध भक्ति सिर्फ वृन्दावन में ही मिलती है। गोप-गोपियों के सिवा और कोई इसे जानता नहीं।

नन्दगोप की भक्ति के कारण भगवान कृष्ण उन्हें अपने पिता मानकर नन्द के पादुक अपने सिर पर रख चला। माता यशोदा को माता मानकर उनसे दिये दण्ड (उलूखल बन्धन को) सहा।

भक्ति के प्रयोजन के बारे में श्रीरामकृष्ण परमहंस ने भी कहा है-

1.भक्ति मानव में भूतदया का भाव उत्पन्न कराती है। उन्होंने शुकदेव , नारद आदि का उदाहरण इसकेलिए प्रस्तुत किया है।

2.भक्ति से बुद्धि तथा ज्ञान उत्पन्न होता है।

3.भक्ति मानव को कामना रहित बना देती है।

4.उत्तम भक्ति से मानव जनक के समान अनासक्त बन जाता है।

5. तीव्र प्रेम भक्ति से भक्त "सर्वं ईश्वरमयं" का अनुभव प्राप्त करता है। इस के लिए गोपिकाओं का कृष्णप्रेम उदाहरण के रूप में परमहंस ने दिया है। कृष्ण के वृन्दावन से चले जाने के बाद गोपिकाएँ ऐसी दशा में पहूँची हैं।

प्रेमभक्ति के फल निम्न लिखित हैं-

5.1.5.1.स्वाधीनता

भक्ति का एक फल है- स्वाधीनता। भगवद् प्रेम में तल्लीन जीव आध्यात्मिक स्वाधीनता में जैसा चाहता है, कर सकता है। जैसा रूप चाहता है, धारण कर लेता है। और अपनी चौबीस प्रकार की शक्तियों से स्वतंत्रता का आनन्द भोगता है।

5.1.5.2.पवित्रता

भक्ति का दूसरा फल है- पवित्रता। भगवद् भक्ति या प्रेम, उसके गुणों का चिन्तन, स्मरण, कीर्तन आदि मानव के (जीव के) सभी प्रकार के अपवित्रता को मिटाकर पवित्रता प्रदान करती है। पवमान प्रभु का आश्रय पाकर जीव पवित्र हो जाता है।

5.1.5.3.विश्वबन्धुत्व

भक्ति का तीसरा फल विश्वबन्धुत्व की भावना है। भगवद् भक्ति की परमोन्नत अवस्था पाकर मानव सत्वगुण संपन्न हो जाता है। उसमें राग-द्वेष आदि भाव नहीं होता। वह सच्चितानन्द स्वरूप बनकर समस्त प्राणियों में एकरस रूप से विराजमान परम आत्मतत्व का दर्शन पाकर द्वैत से परे हो जाता है। प्राणि ही नहीं अचेतन जगत् में भी वह भगवद् दर्शन कर पाता

है। वैसे संपूर्ण विश्व को वह बन्धुता के बन्धन में बाँधकर अपने अन्दर समेट लेता है।

5.1.5.4.प्रभु प्राप्ति

भक्ति का चौथा या अन्तिम फल प्रभु प्राप्ति है। प्रेम भक्त को भक्ति की चरम दशा में भगवान की प्राप्ति होती है। भक्त के लिए भगवान "करतलामलक" याने हाथ के आँवला के जैसा है। भक्त प्रेम स्वरूप भगवान के प्रेम में समा जाता है। भक्त उसी प्रेम प्रभा में चमकने लगता है। ऐसे भक्त विरले ही होते हैं।

प्रेमभक्ति के उपर्युक्त सभी तत्वों के आधार पर आगे सूरदास की रचना 'सूरसागर' और मेल्पुत्तूर नारायण भट्टतिरि की रचना 'नारायणीयम' में अभिव्क्त प्रेम भक्ति पर विचार करना है, उसकी तुलना करना है।

5.2.सूरसागर और नारायणीयम में प्रेमभक्ति की तुलना

प्रेम भक्ति की दो अवस्थायें होती है--प्रेमावस्था और भावावस्था। भक्ति के अनेक मानसिक भाव है और वे सभी भगवान के संबन्ध से अलौकिक हो जाते हैं, फिर भी रूप गोस्वामी से कहे गये पाँच ही प्रमुख है। ये हैं- दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य और आत्मनिवेदन। इन्हीं के आधार पर सूर और मेल्पुत्तूर की भक्ति भावना का विवेचन करने का प्रयास यहाँ हुआ है।

'सूरसागर' प्रेम की लंबी-चौडी दिनचर्या का अथाह सागर है। प्रेम के विविध रूप -दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि दर्पण के प्रतिबिंब

की भांति उसमें जगमगा रहे हैं और कृष्ण के साक्षात् भगवान होने के कारण अन्तत : सब भगवद् भक्ति में पर्यवसित हो जाते हैं। फिर भी यदि शुद्ध रूप से भक्ति संबन्धी प्रेम को ही लिया जाय तो उसका भी अनन्य साधारण रूप सूरसागर में दिखाई देता है।

भगवान प्रेममय हैं। प्रेम के ही कारण उन्होंने अवतार लिया है। यह बात कितनी सुन्दरता के साथ सूर ने अभिव्यक्त किया है--

"प्रीति के वश्य ऐ हैं मुरारी।

प्रीति के वश्य नटवर सुभेषहिं धार्यौ,

प्रीति वश गिरिराज धारी।।"(23)

(मुरारी प्रीति के वश में है। प्रीति के वश में होकर उन्होंने नर्तक का वेष धारण किया। प्रीति के वश में होकर उन्होंने अपनी ऊँगली में गिरिराज गोवर्धन को उठा लिया।)

"प्रीति वश देवकी गर्भ लीन्हौ वास

प्रीति के हेतु ब्राज भेज कीन्हौं।

प्रीति के हेतु कियो जसुमति पयपान,

प्रीति के हेतु अवतार लीन्हौं।।"(24)

(प्रीति के वश में होकर वे देवकी के गर्भ में आये। प्रीति के कारण वे व्रज में ग्वाल वेश में रहे। प्रीति के कारण उन्होंने यशोदा का स्तन- पान किया। प्रीति के ही कारण उन्होंने अवतार लिया।)

सूरदास ने प्रेम की परिभाषा यों दी है-

"प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहि पैये।

प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये।।

एकै निश्चय प्रेम कौ जीवन मुक्ति रसाल।

साँचौ निश्चय प्रेम कौ जेहिरे मिलें गोपाल।।"(25)

इन पंक्तियों में सूर ने प्रेम को प्रेम से ही उत्पन्न होनेवाला कहा है। प्रेम से ही मानव भव-सागर से पार हो सकता है। प्रेम से ही परमार्थ प्राप्त होता है। प्रेम के मधुर पाश में सारा संसार बँधा हुआ है। प्रेम का एक निश्चय ही सरस जीवन मुक्ति है क्योंकि उसी से भगवान प्राप्त होते हैं। भगवान स्वयं प्रेम की डोर में बँधे हुए, भक्त के पास खिंचे चले आते हैं।

सूरदास ने भागवत् के जैसे नवधा भक्ति का विवेचन तो किया है। परन्तु इसे प्रेम भक्ति का साधन कहा है। नवधा भक्ति में पहले तीन प्रकार की भक्ति भगवान के नाम से (श्रवण,कीर्तन और स्मरण), दूसरे तीन प्रकार के रूप से (पाद-सेवन अर्चन, और वन्दन), और अन्तिम तीन प्रकार के मन से (दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन) संबन्ध है। मन से संबन्ध भक्ति ही रस की कोटि तक पहूँचती है और यही प्रेमभक्ति है।

मेलपुत्तूर नारायण भट्टतिरि से विरचित 'नारायणीयम्' भागवत् का संग्रह रूप ही है। इस में 'भागवत्' के समान अंगी रस भक्ति ही है। 'नारायणीयम्' के स्तोत्र रूपत्व आदि से अंत तक भक्ति के निर्बाध एवं सुखद प्रवाह के लिए अनुकूल है। "सांद्रानन्दावबोधात्मक" से लेकर "इदमिह कुरुतां आयुरारोग्यसौख्यम्" तक भक्ति रूपी गंगा का अविच्छिन्न प्रवाह हर भक्तहृदयों

में अनुभववेद्य है। स्वयं भट्टतिरि यहाँ आर्त भक्त है। इसलिए उनकी भक्ति का भाव तीव्र है। तीसरे दशक से उनकी भक्ति की तीव्रता हम देख सकते हैं।"तत्तावद् भाति साक्षात् गुरुपवनपुरे हन्त! भाग्यम जनानाम्" में जो हर्षातिरेक है तथा "एते तावद्वयं तु स्थिरतरमनसा विश्वपीडापहत्यै,निश्शेषात्मानमेनम गुरुपवनपुराधीशमेवाश्रयाम" में जो दृढ़ विश्वास है, दोनों भक्ति भाव की तीव्रता का फल है। उन्होंने अपनी रचना में " भगवान की संबोधना " करते हुए लिखने की शैली को स्वीकार किया है। इसलिए भगवान की निरन्तर अनुसन्धान से भक्ति गंगा का अविच्छिन्न प्रवाह कदापि रुकता नहीं। भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करनेवाले दूसरे , इकानबे और बानबे वाले दशक वास्तव में भक्ति- शास्त्र ही है। इस शास्त्र विषय का प्रतिपादन उन्होंने भक्ति रस का आस्वादन उत्पन्न कराने की शैली में ही किया है। कंस वध के लिए मथुरापुरी में प्रवेश करनेवाले भगवान कृष्ण, कुब्जा, मालादेनेवाला, वायक आदि को अनुग्रहीत करते हुए आगे बढ़ते हैं, उसका वर्णन अत्यन्त भावस्पर्शी है-

"तावन्निश्चितवैभवास्तव, विभो! नात्यन्तपापा जना

यत्किञ्चिद्वदते स्म शक्त्यनुगुणं तांबूलमाल्यादिकम

गृह्णान: कुसुमादि किञ्चन तदा मार्गे निबद्धञ्जलि-

र्नातिष्ठं बत, हा! यतोद्य विपुलामार्तिं व्रजामि,प्रभो।"(द-74-7)(26)

91 वाँ दशक से भट्टतिरि की भक्ति की गहनता और व्यापकता से युक्त महाप्रवाह हर भक्त एवं सहृदय को मिलता है।अंतिम दशक में भक्ति के आनन्द एवं उन्मत्तता में डूबनेवाले कवि के सम्मुख स्वयं भगवान

गुरुवायूरप्पन गोपाल रूप में प्रत्यक्ष होते हैं। भगवान से कवि प्रार्थना करते हैं - "हे भगवान, मुझे आप के दर्शन ही नहीं आप के मुरली गान का अमृत भी चाहिए। इसके लिए आप कृपा कीजिए। आगे वे प्रार्थना ज़ारी करते हैं-" हे भगवान! आप के कल्प वृक्ष की नरम पंखुडी जैसे पदतल मेरे चित्त में रखकर मेरे हर दु:खों को मिटाकर ऐहिक और आमुष्मिक सुख एवं समृद्धि प्रदान कीजिए। इस स्तोत्र में आप संप्रीत होकर आयुरारोग्यसौख्य दे दीजिए" ऐसी प्रार्थना से ही वे स्तोत्र का उपसंहार करते हैं।

यह 'आयुरारोग्यसौख्य' मेल्पुत्तूर केवल अपने लिए नहीं बल्कि इस स्तोत्र के पारायण से जो भक्त भगवान गुरुवायूरप्पन की सेवा करते हैं, उन सब के लिए चाहते हैं। 'नारायणीयम्' में उन्होंने भक्ति रस को पोषित करने योग्य कार्यों का ही वर्णन किया है। ध्रुव चरित, अजामिल कथा, (अजामिलोपाख्यान), प्रह्लाद चरित, गजेन्द्र मोक्ष, अंबरीष चरित, आदि का यथा-विधि निरूपण करके उन पुण्य पुरुषों की भक्ति एवं भगवान की भक्त-वल्सलता का वर्णन करते हुए मेलपत्तूर ने स्वयं अपनी भक्ति को भी पोषित किया है। (भक्ति के आचार्यों ने भक्ति वर्धक सामग्रियों के रूप में पुण्य पुरुषों के चरित गान को भी स्वीकार किया है।)

आगे सूर और भट्टतिरि की रचनाओं में जो प्रेम भक्ति के विविध अंग है, (दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य, और आत्म समर्पण) उनकी विवेचना करेंगे।

5.2.1. दास्य भक्ति

सूरदास ने शास्त्रीय ढंग से भक्ति विषयक पाँचों रसों का विवेचन तो नहीं किया है, फिर भी उनके भक्त ह्दय से निकली हुई स्वाभाविक उक्तियों में इनके अनेक चिन्ह मिल जाते हैं। वैराग्य, दैन्य, विनय,

आदि भावों से प्रेरित होकर सूर ने जो पद लिखे हैं, उन्हें दास्य या शान्ता भक्ति विषयक पद कहा जा सकता है। सूरदास पहले ही संसार से विरक्त हो चुके थे, जिसके फलस्वरूप हमें उनमें दो प्रकार की चेष्टायें दिखाई पडती है। एक तो वे संसार के नाना रूपों और व्यवहारों का तिरस्कार करता दीख पडता है और दूसरी ओर भगवान की अनुकम्पा और भक्त-वत्सलता का वर्णन करता तथा अपनी हीनता का परिचय देता हुआ दिखाई देता है। भक्त के शान्त और दास्य दोनों ही भाव समन्वित होकर चलते हैं। उसे संसार से विरक्ति ही नहीं; आत्मग्लानि भी है, जिसके कारण वह कातर होकर प्रभु को पुकारता है-

" कृपा अब कीजिऐ बलि जाऊँ।

नाहिंन मेरैं और कोउ बलि, चरन-कमल बिन ठाउँ।।

.....

..... सो क्यौं परिहरि जाऊँ।।(27)

(हे प्रभु मैं तुम पर अपने को निछावर कर रहा हूँ। अब मुझपर कृपा कर दीजिए। तुम्हारे चरण-कमलों को छोडकर मेरे लिए और कोई स्थान नहीं। मैं अपवित्र हूँ, अकृत हूँ, अपराधी हूँ। तुम्हारे सामने आने में भी मुझे लाज लग रही है। हे केशव, तुम कृपालू हो, तुम्हारा नाम ही अधम -उधारन हैं। अब मैं किसके दरवाज़े पर जाकर सहायतार्थ खडा होऊँ? मुझे देखना ही किसे अच्छा लगेगा? तुम्हारा नाम ही अशरण-शरण है। मैं कामी हूँ, कुटिल हूँ। मेरा निभाव किसी से नहीं हो सकता, मुझे भी निभा लीजिए, सह लीजिए, बर्दाश्त कर लीजिए। मैं पापी हूँ, मन का अत्यन्त मलिन हूँ और मुफ़्त में बिकनेवाला नहीं हूँ । मुझे तो तुम्हारी अनमोल कृपा ही खरीद सकती है। मैं तुम्हारे पतित-पावन चरण-कमलों को छोडकर कैसे जा सकता हूँ? प्रभु, मुझे खरीद लो, मुझपर

कृपा कर दो।) वह अपनी उद्योग हीनता और भगवान की भक्त-वत्सलता का तुलनात्मक विवेचन भी करता है।

सूर के विनय पदों में दास्य भक्ति के भाव भरे पडे हैं। सूर ने विनय पदों के अतिरिक्त अन्य कई स्थलों में भी भक्त का दैन्य भाव प्रकट किया है। नवम स्कन्ध में राम -स्तुति तथा द्वादश स्कन्ध में रुक्मिणी का भक्ति भाव इसका उदाहरण है। सूर ने जहाँ जहाँ भक्तों के चरित्र का वर्णन किया है, वहाँ भगवान की भक्त वत्सलता का भी विवेचन किया है। प्रह्लाद-चरित्र, कालिय-दमन, चीर-हरण, गोवर्धन-लीला आदि प्रसंगों में भगवान की भक्त वत्सलता और भक्त के दैन्य का (दास्य भक्ति) साथ साथ वर्णन है।

राम स्तुति-

बिनती किहिं विधि प्रभुहिं सुनाऊँ?

महाराज रघुबीर धीर कौं, समय न कबहुँ पाऊँ।

जाम रहतजामिनि के बीतैं, तिहिं औसर उठि धाऊँ।

सकुच होत सुकुमार नींद मैं, कैसैं प्रभुहिं जगाऊँ।

.....

पतित-उधारन नाम 'सूर' प्रभु, यह रुक्का पहूँचाऊँ।।(28)

प्रह्लाद चरित्र में प्रह्लाद की स्तुति और भगवान की भक्तवत्सलता का हृदयस्पर्शी वर्णन मिलता है। हिरण्य कशिपु के वध के बाद क्रोधावेश में रहे नृसिंह के क्रोध का शमन करने केलिए सभी देवताओं के कहने अनुसार प्रह्लाद नृसिंह की स्तुति करता है। वह कहता है कि उसे स्वप्न तुल्य प्रभुता-विभुता नहीं चाहिए। केवल आप की अनन्य भक्ति ही

चाहिए। साथ ही वह विनती करता है कि अपने पिता का भी उद्धार करें। भक्तवत्सल भगवान ने प्रह्लाद के इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार किया(29)

कालिय दमन प्रसंग में काली नाग के दर्प का (अहंकार) शमन करके उसे अपने शरण में लिवा लाने का सुन्दर वर्णन मिलता है। जब अहं में आकर काली नाग ने जमुना के जल में विष फ़ैला दिया और वृन्दावन के सभी जीव-जालों के जीवन में विषम स्थिति आ पहूँची तो बाल कृष्ण उसके अहं को मिटाने के उद्देश्य से जमुना में कूद पडा। तब काली नाग कृष्ण को आक्रमण करने लगा। परन्तु जल्दी ही जल्दी कृष्ण ने उसे परास्त किया। काली नाग जब कृष्ण की असलियत को पहचान पाया तो उसने कृष्ण की स्तुति की। साथ ही उसने अपने पापों को मिटाकर उसे मुक्त करने की भी विनती की। जब कृष्ण ने देखा कि काली नाग अपने शरणार्थी बन चुका है तो उन्होंने उसे शरण दे दिया। काली नाग के प्रत्येक फन पर अपने कोमल चरण रखते हुए उसके दैहिक, भौतिक,दैविक तीनों प्रकार के संतापों को मिटा डाला और उसे सुख दिया।

'देखी दरस मन हरष भयौ।

.....

सूरदास धनि धनि मेरे फन, चरण-कमल जहँ देहुँ '।।(30)

'अब कीन्ह्यौ प्रभु मोहि सनाथ।

.....

सूरस्याम देख्यौ अहि ब्याकुल, दीन्ह्यौ मेटे त्रय ताप'।।(31)

मेल्पुत्तूर ने भी नारायणीयम् में दास्य भक्ति विषयक वर्णन किया है। नारायणीयम में ध्रुव चरित, प्रह्लाद चरित, अंबरीष चरित आदि के माध्यम से मेल्पुत्तूर ने दास्य भक्ति को प्रस्तुत किया है। ध्रुव और प्रह्लाद

दोनों भगवान विष्णु के अनन्य भक्त थे। बाल्य में ही तपस्या करके ध्रुव विष्णु भगवान के लिए प्रिय बना। सौतेली माता के उपहास से दु:खी ध्रुव अपने कर्म

गति को रोकने केलिए माँ के कहने अनुसार तथा महर्षि नारद के उपदेश से पाँचवीं वर्ष की आयु में तप करने केलिए घर से निकला। मधुवन जाकर तप द्वारा ध्रुव भगवान की आराधना करने लगा। नारद ने जो मंत्र - दीक्षा दी थी- "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"-इसका जप करते हुए भगवान में अपना मन पूर्णतया रखकर, क्रमश: बढ़ाते हुए कठिन तपस्या करने लगे।वैसे पाँच महीने बीत गये। भट्टतिरि के अनुसार---

"तावत् तपोबलनिरुच्छ्वसिते दिगन्ते

देवार्थितस्त्वमुदयत्करुणाद्रचेता:

त्वद्रूपचिद्रसनिलीनमते: पुरस्ता-

दाविर्बभूविथ, विभो, गरुडाधिरूढ:।"(32)

(क्रमश: ध्रुव अपने श्वास गति को रोकते हुए कठिन तपस्या करने लगे तो उसी के प्रभाव से जगत् वालों के प्राण तडपने लगे। तब देवों की विनती मानकर भगवान करुणाद्रचित्त होकर ध्रुव के सामने प्रकट हुए। उस समय ध्रुव अपने चित्त में भगवद् स्वरूप को पाकर आनन्दमग्न हो गया था।)

भट्टतिरि कहते हैं कि तपस्या की उच्च स्थिति में भगवान भक्त के हृदय(चित्त) में ही रहने लगते हैं और भक्त परम आनन्द में डूबने लगता है। तब भक्त, भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन (साक्षात् दर्शन) कर सकता है। ध्रुव की भी यही दशा है। अपने इष्टदेव को सामने देखकर ध्रुव

आनन्द की पराकाष्ठा में पहूँचता है, और चाहने पर भी भगवद् स्तुति वह नहीं कर पाया। मेल्पुत्तूर के शब्दों में--

"त्वद्दर्शनप्रमदभारतरंगितं तं

दृग्भ्यां निमग्नमिव रूपरसायने ते

तुष्टूषमाणमवगम्य कपोलदेशे

संस्पृष्टवानसि दरेण तथादरेण।(33)

(भगवद् दर्शन से प्राप्त परमानन्द में तल्लीन होने से स्तुति करने को चाहने पर भी निश्शब्द एवं निर्निमेष खडे रहनेवाले ध्रुव को उसकी अभिलाषा जानकर भगवान ने अपने विशिष्ट शंख से उसके कपोलों पर धीरे से फेरा। भगवान का 'शंख' नाद ब्रह्मात्मक है। उसके स्पर्श से ध्रुव को वाग्मित्व प्राप्त हुआ। भगवद् कृपा कटाक्ष से ध्रुव का सभी मनो मालिन्य मिट गया और वह अतीव भक्ति एवं श्रद्धा से भगवान की स्तुति करने लगा। तब तक उसके मन में भक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं था। वह पूर्ण रूप से अपने आप भगवान के चरणों पर समर्पित हो चुका था, भगवान का दास बन चुका था। ऐसे भक्त-दास को भगवान ने बिना पूछे ही अभीष्ट वर दे दिया- "हे ध्रुव! अनेक वर्ष राज भोग करके अन्त में सब से श्रेष्ठ पद प्राप्त कर"।

"तावद् विबोधविमलं प्रणुवन्तमेन-

माभाषथा स्त्वमवगम्य तदीयभावं

"राज्यं चिरं समनुभूय भजस्वभूय :

सर्वोत्तरं ध्रुव ! पदं विनिवर्तिहीनं।(34)

भट्टतिरि आगे कहते हैं कि ध्रुव की भगवद् भक्ति इतना सुदृढ़ है कि युद्ध क्षेत्र में भी वह अपना 'शम-गुण' या क्षमाशील छोडता नहीं। इसीलिए यक्षराज वैश्रवण ध्रुव से संतुष्ट हो जाते हैं और ध्रुव की इच्छानुसार और भी अटल(अचल) भक्ति का वरदान देते हैं। वही ध्रुव को अन्त में नक्षत्र रूपेण स्थिर पद प्राप्त होता है।

दास्य भक्ति का दूसरा उदाहरण भक्त प्रह्लाद का है। भक्त प्रह्लाद , हिरण्यकशिपु नामक असुर का बेटा है। भगवान महाविष्णु को मारने के लिए जब हिरण्यकशिपु वैकुण्ठ आये, तब वे (भगवान) स्वयं हिरण्य- कशिपु के ह्दय में अणुस्वरूप होकर छिप जाते हैं। इसी कारण हिरण्य-कशिपु को एक परम भक्त पुत्र मिला। माँ के गर्भ में रहते समय ही प्रह्लाद भगवान का भक्त बन गया। भट्टतिरि कहते हैं-

" ततोऽस्य प्रह्लाद: समजनि सतो गर्भवसतौ

मुनेर्वीणापाणेरधिगतभवद्भक्तिमहिमा

सवै जात्या दैत्या: शिशुरपि समेत्य त्वयि रतिं

गतस्त्वद् भक्तानां, वरद, परमोदाहरणतां।(35)

हे वरदाई भगवान! कुछ समय के बाद हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद का जनम हुआ। गर्भ में रहते समय ही इसे वीणापाणि मुनि (नारद) से आप की भक्ति की महिमा का बोध प्राप्त था। वह जाति में असुर था, बालक था, फिर भी आप में भक्ति पाकर आप के भक्तों का दृष्टांत बन गया।

भट्टतिरि प्रह्लाद की दास्य भक्ति की दृढ़ता इस प्रकार प्रकट करते हैं-

"सुरारीणां हास्यं तव चरणदास्यं निजसुते

स दृष्ट्वा दुष्टात्मा गुरुभिरशिशिक्षच्चिरमुम्

गुरुप्रोक्तं चासाविदमिदमभद्राय दृढ़भि-

त्यपाकुर्वन् सर्वं तव चरणभक्तैव ववृधे।(36)

परम दुष्ट हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र में असुरों के प्रति परिहास तथा आप (भगवान विष्णु) के प्रति दास्य भाव देखकर चिर- काल तक उसे गुरुओं द्वारा शिक्षा दिलाई। लेकिन प्रह्लाद ने उन से (गुरुओं) सिखाई हुई सब बातों को अमंगल या बुरा मानकर तिरस्कार किया और आप की भक्ति के बल से ही बढ़ता रहा।

जब हिरण्यकशिपु ने पूछा कि प्राप्त की गई विद्याओं में सब से श्रेष्ठ या उत्तम कौन सी है? तो प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि "भगवद् भक्ति ही उत्तम या श्रेष्ठ है"। इस कथन को प्रह्लाद की सहज बुद्धि जानकर पिता हिरण्यकशिपु अपने पुत्र की हत्या का उपाय ढूँढने लगा।

प्रह्लाद की भक्ति के बारे में स्वयं भट्टतिरि कहते है --

" स शूलैराविद्ध: सबहु मथितो दिग्गजगणै-

र्महासर्पैर्दृष्टोऽप्यनशनगराहारविदुत:

गिरीन्द्रावक्षिप्तोऽप्यहह! परमात्मन्नयि विभो

त्वयि न्यस्तात्मत्वात् किमपि न निपीडामभजत्।(37)

159

हे भगवान! परमात्मन! प्रह्लाद के शरीर में कई बार शूल झोंका गया, दिग्गजों के पैरों तले वह कुचला गया, बडे बडे विषैले सर्पों से दंश कराया गया, उसे भूखा रहना पडा, विषान्न खाना पडा और पर्वतों की चोटी से नीचे को गिरा दिया गया। लेकिन अपने आप को भगवद् चरणों में समर्पित किये जाने के कारण इन कठिन यन्त्रणाओं से उसे तनिक भी पीडा नहीं हुई।

इतना सब कुछ होने पर भी प्रह्लाद गुरुकुल में अपने मित्र बालकों को भी भक्ति तत्व और भगवद् महिमा एवं मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान आदि का उपदेश देता रहा। इतना भी नहीं, प्रह्लाद ने अपने पिता से कहा कि महा विष्णु ही अपना बल है। यहाँ कवि कहना चाहता है कि जो अपने को भगवान का दास मानता है वह अपनी रक्षा का दायित्व भी भगवान पर अर्पित करता है। इसीलिए वह हमेशा निश्चिन्त एवं निडर रहता है।

एक निष्काम भक्त का सभी लक्षण हम प्रह्लाद में देख सकते हें। अपने शत्रु को जब पुत्र प्रह्लाद अपना भगवान समझता है तो पिता हिरण्यकशिपु पुत्र को भी अपना शत्रु मानता है। जब नृसिंह द्वारा पिता की मृत्यू होती है, तब बालक प्रह्लाद ने बिना भय से भगवान नृसिंह की स्तुति की। उसकी स्तुति से संतुष्ट एवं शान्त हुए भगवान नृसिंह बिना माँगे ही प्रह्लाद को वर दिया। भक्त प्रह्लाद की भक्ति के ही कारण उसके पिता को मोक्ष प्राप्त हुआ। यहाँ भट्टतिरि कहते है कि बालक प्रह्लाद के न चाहने पर भी भगवान नृसिंह ने उसे और सारे असुर कुल को आशिर्वाद दे दिया।

“भूयोप्यक्षतरोषधाम्नि भवति ब्रह्माज्ञया बालके

प्रह्लादे पदयोर्नमत्यपभये कारुण्यभाराकुल:

शान्तस्त्वं करमस्य मूर्ध्नि समधा:स्तोत्रैरथोद्गायत-

160

स्तस्याकामधियो पि तेनिथवरंलोकाय चानुग्रहम”।(38)

अगला उदाहरण राजा अंबरीष का है। वैवस्वत मनु के प्रपौत्र अंबरीष की भक्ति निष्काम दास्य भक्ति का उत्तम दृष्टांत है। विश्व सम्राट होने पर भी भगवद् भक्ति तथा भगवद् भक्तों के प्रति आदर हमेशा उनके मन में था। सभी कार्य भगवद् चरणों पर अर्पित होकर कर रखने के कारण संप्रीत होकर भगवान ने स्वेच्छा से (अंबरीष के न माँगने पर भी) सभी तरह के संरक्षण प्रदान किया। अपने सुदर्शन चक्र तक को अंबरीष की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया।

"त्वत्प्रीतये सकलमेववितन्वतो स्य

भक्तैव देव ,नचिरादभृथा: प्रसादम;

येनास्य याचनमृते प्यभिरक्षणार्थम्

चक्रं भवान् प्रवितातार सहस्रधारम्"।(39)

एक बार ऐसा हुआ कि अंबरीष ने भगवद्-पूजा आराधना के उद्धेश्य से यमुना नदी के पास मधुवन में रहकर एक वर्ष तक द्वादशी व्रत का अनुष्ठान किया। (द्वादशी व्रत-एकादशी के दिन अनशन करके द्वादशी के दिन व्रत का पारण करना है।) अन्तिम द्वादशी व्रत के पारण के पहले भगवान विष्णु की पूजा-अर्चना की समाप्ति के समय महर्षि दुर्वासस् उनके भवन में आ पहूँचे। राजा अंबरीष ने उन्हें भोजन केलिए निमन्त्रण दिया। राजा को मुसीबत में डालने के उद्देश्य से महर्षि दुर्वासस् माध्याह्निक कर्म (दुपहर के वक्त जो आचमन आदि कर्म है, वह।) केलिए यमुना नदी की ओर धीरे धीरे चला। जब महर्षि के नदी से लौट आने में देर लगते देखकर राजा अंबरीष ने

सिर्फ़ जल से पारण किया। और उसी वक्त महर्षि वहाँ आ पहूँचे और दिव्य दृष्टि से बात जानकर राजा को बुरी तरह डाँटा। यह भी नहीं अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपनी जटा खींच लेकर "कृत्या" की सृष्टि की। "कृत्या" खड्ग लेकर राजा की ओर कूद पडी। राजा भगवद् भक्ति में लीन तथा अचल होकर खडे हो गये। स्वयं सुदर्शन चक्र भक्त अंबरीष की रक्षा केलिए उद्यत हुए और कृत्या को भस्म कर दिया। और फ़िर दुर्वासस् के पीछे पडा। ब्रह्मा, शिव और विष्णु से उनकी रक्षा नहीं हो पाया। भगवान विष्णु ने ऐसा कहकर उन्हें टाल दिया कि मैं भक्त दास हूँ। अब आप की रक्षा केवल अंबरीष ही कर सकता है। अन्त में महर्षि अंबरीष के पास आये और अंबरीष अत्यन्त विनय से सुदर्शन चक्र की स्तुति करके उसे लौटा दिया और महर्षि को बचा दिया। महर्षि दुर्वासस् ने अंबरीष को सभी प्रकार की भलाइयों का आशिर्वाद दिया। महर्षि का स्वागत-सत्कार यथाविधि करके अंबरीष ने भी भोजन किया। (महर्षि की प्रतीक्षा में

अंबरीष ने एक वर्ष तक बिना भोजन लिए जीवन व्यतीत किया था।) इस प्रकार अंबरीष ने भगवान पर अधिकाधिक भक्ति में तल्लीन होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लिया।

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि शान्ता या दास्य भक्ति में सूरदास और भट्टतिरि ने अपने अपने दैन्य भाव प्रकट किये हैं। दोनों आर्त भक्त हैं। दोनों ने आदि से अन्त तक विभिन्न स्थानों में या तो अपनी ओर से या दूसरों की ओर से दासता का भाव प्रकट किये है।सूरदास अपने विनय पद में एक स्थान पर अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण से कहते हैं कि मेरे उद्धार का भार आपको है, दूसरों को (अजामिल जैसों को) आपने उद्धार किया है, वह मान-शान बचाये रखने के लिए ही सही मेरा भी उद्धार कीजिए। वैसे मेल्पुत्तूर नारायण भट्टतिरि ने भी एक जगह कहा है कि जो आप से विमुख रहते हैं वे भी सुखी हैं। लेकिन मुझ जैसे भक्त को जीवन में क्लेश ही है। हे

कंस हन्ता, हे भक्ताभीष्टप्रद, आप को कोई दुष्कीर्ति न हो जाय, इसीलिए मुझे रोगमुक्त करके आप के भक्तों में प्रमुख बना दीजिए।

सूरदास जन्म से ही सांसारिक जीवन से विरक्त थे। लेकिन भट्टतिरि ऐसे नहीं थे। तभी तो इन दोनों की रचनाओं में भी ऐसी फरक दिखाई देती है।

5.2.2.सख्य भक्ति

"परमात्मा सुख-दु:ख और आमोद-प्रमोद में मेरा साथी है। वह मेरा परम मित्र है, बन्धु है, उसके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई मित्र या बन्धु नहीं है, इस प्रकार के भाव का बोध सख्य-प्रीत या सख्य भक्ति से होता है"।(40)

पुष्टि संप्रदाय में सख्य-भाव की भक्ति का बडा महत्व है। सूरदास के सखा भाव में भक्ति भाव की पूर्ण तल्लीनता और भावात्मकता की अनुभूति भी दीख पडती है। सूरसागर में बाल लीलाएँ, गोचारण लीलाएँ, और सुदामा-दारिद्र-निवारण, ये तीनों स्थल सख्य भक्ति के हैं। कृष्ण के सखाओं में सूर ने सुबल, श्रीदामा, और सुदामा का विशेष उल्लेख किया है। कृष्ण के समवयस्क सखा ही उनके पूर्ण विश्वास पात्र है, जो उनके साथ सब प्रकार की केलियों में रहते हैं और उनके सब रहस्यों को जानते हैं। ये समवयस्क सखा ही भगवान के सच्चे भक्त हैं। इस सखा भाव में भी सूरदास ने कहीं कहीं भक्ति-भाव दिखाया है। वृन्दावन के धेनु-चारण का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया हैं- "भगवान कृष्ण वृन्दावन में गौयें चराते हैं और सब ग्वाल--सखाओं के साथ आनन्द से खेलते हैं। वे अपने धाम को बिसारकर मानो इन सुख की क्रीडाओं केलिए ही वृन्दावन में पधारे हैं।"

“वृन्दावन मोकौं अति भावत।

सुनहु सखा तुम सुबल श्रीदामा,ब्रजतैं वन गौ-चारन आवत।।

.....

‘सूरदास’ सुनि ग्वाल चकृत भए, यह लीला हरि प्रगट दिखावत।।(41)

ग्वाल-बाल भक्ति भाव से कृष्ण से प्रार्थना करते हैं--"हे श्याम, तुम हमें भुला न देना, जहाँ जहाँ तुम देह धारण करो, वहाँ वहाँ हमें अपने चरणों से अलग न करना।"

“ग्वाल सखा कर जोरि कहत है, हमहिं स्याम तुम जनि बिसरावहु।

जहाँ जहाँ तुम देह धरत हौं, तहाँ तहाँ जनि चरन छुडावहु”।।(42)

इन ग्वाल-बाल के सख्य-भाव और उनके प्रति कृष्ण के प्रेम को देखकर ब्रह्मा का भी गर्व नष्ट हो जाता है और वे कृष्ण की स्तुति करते हुए व्रज-वासियों के भाग्य की सराहना करते हैं और स्वयं भी यही कामना करते हैं कि वे व्रज में ही उत्पन्न हों और ग्वालों के झूठे अन्न से ही उन्हें पेट भरना पडे।

“ऐसैं बसिऐ ब्रज की बीथिनि।

ग्वारिन के पनवारे चुनि-चुनि,उदर भरीजे सीथिनि।

.....

परसत ‘सूर’होत तन पावन, दरसन करत अतीतनि।। (43)

सख्य-भाव में सूरदास की सब से बडी विशेषता है, उसमें स्वाभाविकता का समावेश, जिसके दर्शन हमें कृष्ण की प्रत्येक अलौकिक लीला से पहले होते हैं। कालिय-दमन लीला, गोवर्द्धन-लीला,

वृषभासुर- वध - लीला, माखन-लीला आदि सभी प्रसंगों पर सूर ने ऐसा चित्रण किया है कि सखा कृष्ण के अलौकिकता को भूले हुए हैं।

सख्य भाव को भक्ति धर्म की भावात्मक पूर्णता तक पहूँचाने केलिए सूरदास ने न केवल श्रीकृष्ण के गोप-रूप और गोप-लीला के प्रति संयोग दशा में सखाओं की उत्कट आसक्ति प्रदर्शित की है, वरन् वियोग की दशा में सखा गण भी विरह से अभिभूत दिखाए गए हैं।

सख्य भक्ति के उदाहरण स्वरूप सूर ने सुदामा चरित्र को दिखा दिया है। करीब बाईस पदों में (संपूर्ण सूरसागर के अनुसार) उन्होंने सुदामा की कहानी कही है। इस सुदामा चरित्र का एक संक्षिप्त रूप नीचे दिया है।

"दीन द्विज द्वारैं आइ भयौ ठाढ़ौ।

नाम सुदामा कहत नाथ जू, दुखी आहि अति गाढ़ौ।

सुनतहिं बचन कमल-दल-लोचन, कमालापति उठि धाए।

त्रिभुवन-नाथ जानि अपनौ प्रिय, हित सौं कंठ लगाए।

आदर करि मंदिर मैं ल्याए, कनक पलँग बैठाए।

.....

सूर सुदामा कौं जू भेंटि हरि, दारिद दु:ख निवार्यौं"।।(44)

(सुदामा पत्नी के कहे अनुसार द्वारिकाधीश भगवान कृष्ण के पास पहूँचे। द्वारिका महल के द्वार पर पहूँचकर अपना परिचय दिया और श्रीकृष्ण को देखने की इच्छा प्रकट की।) द्वारपाल ने भीतर

जाकर कृष्ण से कहा- एक दीन ब्राह्मण राजद्वार पर खडा है। वह अत्यन्त दुखी जान पडता है। हे नाथ, वह अपना नाम सुदामा बता रहा है।

जैसे ही कमल के पंखुड़ियों जैसे नयनवाले कमलाकांत कृष्ण ने सुदामा का नाम सुना-वे तुरंत पलँग पर से उठ खडे हुए और द्वार की ओर दौड पड़े। त्रिलोकनाथ ने उस ब्राह्मण को अपना प्रिय समझकर उसे प्रेम से गले लगा लिया। वे उसे आदर पूर्वक घर के भीतर ले गए और सोने के पलँग पर बिठा दिया। उन्होंने गुरु- आश्रम की अनेक पुरानी कथाएँ भी कह सुनाई। श्रीपति अपने श्रीमुख से बोले- भाभी ने मुझे कुछ खाने केलिए दिया है? फेंट में बँधे एक अँजुरी चावल को हरि ने बलपूर्वक खोल लिया। वे दो मुट्ठी चावल मुँह में डालकर

खा गए। तीसरी मुट्ठी लेने केलिए उन्होंने फिर हाथ बढ़ाया ही था कि रुक्मिणी ने यह कह दिया कि तुम ने दो लोक तो दे दिया, अब अपना हाथ रोको। हरि ने सुदामा को विदा कर दिया। वे अपने नगर में पहूँच गए। वहाँ वे अपने घर खोजने लगे, पर वह उन्हें नहीं मिला। पास एक प्रासाद मिला। प्रासाद में उनकी घरनी थी, उसने उन्हें पहचाना और प्रेम पूर्वक भीतर बुलाया। चारों वेद देवकीनन्दन प्रभु को दीनदयाल कहते हैं। उन्हीं दीनदयाल ने सुदामा को भेंटकर उनके सारे (दारिद्र्य)) दु:ख दर्द मिटा दिए।

'नारायणीयम' में सख्य भक्ति के उदाहरण के रूप में ग्वाल बालक गण, उद्धव, सुदामा (कुचेल) अर्जुन आदि की कहानी को भट्टतिरि ने स्वीकार किया है। ग्वाल बालकों के साथ वृन्दावन में विचरण करते समय वत्सासुर, अघासुर जैसे असुरों का निग्रह करके ग्वाल बालकों की रक्षा करते हुए भी अपनी वास्तविकता को छिपाकर भगवान कृष्ण उनके सखा भाव में उन सब के प्रेम का आस्वादन करते हैं। ग्वाल बालक सब कृष्ण को सखा मानते हैं । तो भी उनके मन में कृष्ण के प्रति जो प्यार और आदर है, वह इतना बढ़िया हैं कि वे सब कृष्ण के साथ रहने पर निडर एवं अपने को सुरक्षित

भी मानते हैं। नारायणीयम् के दशक 51,53,54,57,58,70 आदि में ग्वाल बालक और कृष्ण के बीच जो मित्रता है,उसे देखने को मिलता है।

एक बार गोचारण के लिए जंगल पहूँचे तो दावाग्नि में पडकर ग्वाल बालक सब प्रलाप करते समय भगवान कृष्ण ने उन सब की रक्षा की । बालकों ने आनन्द एवं आश्चर्य से कृष्ण की प्रशंसा भी किया। वे सब समझ पाते हैं अथवा उन सब का अटल विश्वास है कि जब कृष्ण उनके साथ है, तो कोई उनके बाल तक बाँका नहीं कर सकते। (45)

वृषासुर(अरिष्टासुर) के वध के बाद ग्वाल बाल क अपने सखा कृष्ण का परिहास करते हैं, इसका वर्णन कवि ने यों किया है-

"औक्षकाणि,परिधावत दूरम्

वीक्ष्यतामयमिहोक्षिभेदी

इत्थमात्तहसितैस्सह गोपै-

र्गेहगस्त्वमव,वातपुरेश।(46)

(यह कृष्ण बैलों का वध करने वाला है, इसलिए हे बैलो, तुम यहाँ से भाग जाओ। देव गण जब भगवान की स्तुति करते हैं तो ग्वाल बालक कृष्ण को अपने में

एक जैसे हँसी उडाते हैं। यहाँ ग्वाल बालकों की चित्तशुद्धि (मन की पवित्रता) ही भगवान को उनकी ओर आकृष्ट करते हैं।)

सभी ग्वाल बालक श्रीकृष्ण के सखा है। फिर भी श्रीदामा के प्रति अधिक आत्मीयता है। आत्म मित्रों से खुलकर बात करना, कोई रहस्य नहीं छिपाना आदि सख्य भाव की विशेषताएँ हैं। श्रीकृष्ण और

श्रीदामा के बीच ऐसी आत्मीयता है, यह भट्टतिरि ने भी कहा है। दशक पचहत्तर में कुवलयापीड नामक हाथी के वध के समय हाथी के प्रत्यक्ष दोनों दाँतों को निकालकर उसके निचले भाग में पडे अमूल्य मोत्तियों को श्रीदामा के हाथ में देकर कृष्ण कहते हैं कि इससे एक सुन्दर हार बनाकर राधा को दे दीजिए। राधा के प्रति अपना प्रेम कृष्ण अपने आत्म मित्र से यों प्रकट करते हैं।

"हस्तप्राप्योप्यगम्यो झटिति मुनिजनसेव्य धावन् गजेन्द्रम्

क्रीडन्नापत्य भूमौ पुनरभिपततस्तस्य दन्तं सजीवम्

मूलादुन्मूल्य, तन्मूलगमहितमहामौक्तिकान्यात्ममित्रे

प्रादास्त्वं- "हारमेभिर्ललितविरचितं राधिकायै दिशे" ति"।(47)

उद्धव श्रीकृष्ण के मित्र है, साथ भक्त भी। उद्धव अपने को ब्रह्मज्ञानी मानते हैं। लेकिन कृष्ण के प्रति उद्धव का प्रेम या मित्रता तो अथाह भी है। वृन्दावन से मथुरा पुरि आये श्रीकृष्ण भी गोपिकाओं के प्रति विह्वल (प्रेम विह्वल) थे। गोपिकाएँ भी कृष्ण के विरह में विवश थी। ऐसे इस अवसर पर अपने परम मित्र उद्धव को श्रीकृष्ण ने दूत बनाकर भेज दिया। श्रीकृष्ण के जैसे वेष-भूषा से वृन्दावन पहूँचे उद्धव का स्वागत-सत्कार नन्द-भवन में हुआ। कृष्ण के मित्र को अपने ही मित्र समझकर गोपिकाएँ कृष्ण प्रेम और उनके साथ की लीलाओं का खुले तौर से वर्णन करने लगीं।

वृन्दावन से मथुरा लौटे उद्धव बिलकुल बदल गये थे। असली प्रेम भाव उद्धव ने वृन्दावन में देखा। भट्टतिरि के शब्दों में –

"एवं भक्तिस्सकल भुवने नेक्षिता न श्रुत्वा वा

कि शास्त्रौघै: किमिह तपसा गोपिकाभ्यो नमोस्तु

इत्यानन्दाकुलमुपगतं गोगुलादुद्धवं तम्

दृष्टा हृष्टो गुरुपुरपते, पाहि माममयौघात्।।" (48)

(संसार-भर में कहीं ऐसी भक्ति दिखाई नहीं पडती, न सुनाई पडती। तप और शास्त्रों से क्या फल? गोपिकाओं को मेरा प्रणाम। इस प्रकार के विचारों से गोकुल से वापस आये हुए हर्ष-विवश उद्धव को देखकर आप अत्यन्त प्रसन्न हो गये। वही आप, हे गुरुवायुपुरेश, मुझे रोगों से बचा लें।)

सख्य भक्ति का एक मकुटोदाहरण है, सुदामा अथवा कुचेल। गुरु सांदीपनी के यहाँ कृष्ण और सुदामा सहपाठी थे। पढाई के बाद दोनों अपने अपने घर लौट चले। सुदामा गृहस्थ बना। अपने मित्र श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति में एकाग्र सुदामा या कुचेल का जीवन दरिद्रता में ही बीता। एक बार कुचेल की पत्नी ने उससे कहा- अपने इष्ट सखा कृष्ण को एक बार जाकर देख लीजिए, वे रमापति है। कम से कम जीविका तो चला सकते हैं।(49) बहुत कहने पर सुदामा सिर्फ अपने मित्र को देखने की इच्छा से निकल पडे। पत्नी द्वारा पास-पडोसियों से माँगकर लायी चिउडा को भेंट के रूप में साथ ले चला। कृष्ण के भवन में पहूँचे सुदामा का श्रीकृष्ण ने अतीव प्यार से सेवा-सत्कार किया। गुरुकुल जीवन की सारी घटनाएँ याद की । बाद में भेंट के रूप में लायी चिउडा कृष्ण को देने में लज्जित सुदामा के हाथ से कृष्ण ने बलात् उसे ले लिया और मुष्टि-भर खाया। द्वारिका में सुख से रहकर लौटे सुदामा ने अपने मित्र और भगवान कृष्ण से कुछ नहीं मांगा। (पत्नी ने कुछ मांगने केलिए तो कहा भी था।) क्यों कि मित्र से कुछ मांगना सुदामा नहीं चाहता था। लेकिन घर लौट आकर सुदामा ने देखा कि अपना मित्र श्रीकृष्ण ने सच्ची मित्रता निभायी है। क्योंकि एक असली मित्र अपने मित्र की दुर्दशा में बिना पूछे ही सहायता ज़रूर करेगा।फ़िर यहाँ तो दोनों आपस में प्यार करते हैं और सम्मान

भी। पहले सुदामा को अपनी झोंपडी के स्थान पर एक रम्य हर्म्य देखकर भ्रम तो हुआ। बाद में समझ पाया कि यह भगवान कृष्ण का अनुग्रह है। भगवद् अनुग्रह से बडा ऐश्वर्यवान होने पर भी नित-नित बढ़नेवाली भक्ति से सुदामा का मन भरा रहता था।

" किं मार्गविभ्रंश इति भ्रमन् क्षणम्

गृहं प्रविष्ट: स ददर्श वल्लभाम्

सखीपरीतां मणिहेमभूषिताम्

बुबोध त्वत्करुणां महाद्भुताम्”।(50)

“ स रत्नशालासु वसन्नपि स्वयम्

समुन्नमद्भक्तिभरोमृतं ययौ।

त्वमेवमापूरितभक्तवाञ्छितो

मरुत्पुराधीश, हरस्व मे गदान्”।(51)

मित्र भाव में अपने को देखनेवाले की रक्षा के लिए भगवान हमेशा उद्यत रहते हैं। इसका उत्तम उदाहरण है, ‘नारायणीयम’ में वर्णित संतानगोपालम् का प्रसंग (दशक 88)। स्वयं भगवान मित्र होने पर भी अज्ञान के मारे अर्जुन के मन में थोडा अहंकार उमड पडा। द्वारिका के किसी ब्राह्मण के घर में बार-बार शिशु मरण घटित हुई। इसमें ब्राह्मण का प्रलाप सुनकर कृष्ण ‘कर्मफल’ जानकर निस्संग रहे। लेकिन आठों पुत्रों की मृत्यू के बाद, एक बार अर्जुन श्रीकृष्ण के यहाँ मैत्री हेतु कुछ दिन रहे। तब नवें पुत्र की भी मृत्यू हुई और ब्राह्मण का रोना-कलपना ज़ोर ज़ोर से सुनाई पडा। तब भी

भगवान श्रीकृष्ण चुप हैं। यह देखकर अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि अगर मैं दसवें पुत्र को न ला दूँ तो आग में प्रवेश करूँगा। अहंकार के कारण अपनी प्रतिज्ञा की

बात अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा भी नहीं। श्रीकृष्ण को कुल सहित दोषारोपण भी किया।

अर्जुन ने ब्राह्मण के घर जाकर अनेक बाणों और विशिष्ट दिव्यास्त्रों से प्रसूति-गेह को (अन्यों के प्रवेश से) रोक रखा। परंतु इस प्रकार पहरा देने पर भी दसवाँ बच्चा पैदा होते ही गायब हो गया। अर्जुन उसकी खोज में योग विद्या के बल से यमपुरी, स्वर्ग तथा अन्य श्रेष्ठ देवों के पुरों में पहूँचे। लेकिन जब सारा प्रयत्न विफल हुआ तो प्रतिज्ञा के अनुसार आग में कूद पडने को तैयार हुए। लेकिन भगवान कृष्ण मुस्कुराते हुए वहाँ आ पहूँचे और अर्जुन को रोक दिया। उन्होंने अर्जुन को साथ लेकर अनुपम एवं अवर्णनीय वैकुण्ठ का दर्शन भी कराया। वहाँ से ब्राह्मण के सारे पुत्रों को लेकर ब्राह्मण को दे दिया। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की स्तुति की।

“ भूयोथ द्वारवत्यां द्विजतनयमृतिं तत्प्रलापानपि त्वम्

.....

तत्वारूढां विधातुं परमतमपदप्रेक्षणेनेति मन्ये”।(52)

“ युवां मामेव द्वावधिकविवृतान्तर्हिततया

.....

द्विजायादायादा: प्रणुतमहिमा पाण्डुजनुषा”।(53)

सूरदास और भट्टतिरि ने सख्य भक्ति को अत्यन्त सहज भाव से ही प्रकट किया है। कृष्ण और ग्वाल बालकों के बीच जो प्यार

मित्रता है, इसमें भक्ति भाव ही प्रकट है। दोनों ने कृष्ण के सामिप्य में ग्वाल -बालकों की मानसिक दशा का तथा कृष्ण के प्रति आदर और प्रेम का वर्णन किया है। ग्वाल-बालकों का विश्वास है कि कृष्ण अपने साथ है तो उनका कोई बाल तक बाँका नहीं कर सकते। वे कृष्ण के साथ हमेशा सुरक्षित है।

सूरदास कभी अपने को द्वापर युग के सुदामा मानते थे। तो भट्टतिरि स्वयं गुरुवायूरप्पन से सखा जैसे बर्ताव करते थे। उन्होंने अपनी रचना भगवान गुरुवायूरप्पन को संबोधित करते हुए ही की है। सूरदास ने सख्य भाव (भक्ति) के विरह पक्ष का भी चित्रण किया है। लेकिन भट्टतिरि ने सख्य भक्ति का केवल संयोग पक्ष ही लिया है। उन्होंने विरह पक्ष की उपेक्षा की है।

5.2.3.वात्सल्य

सख्य भक्ति के जैसे वात्सल्य-भक्ति भी बडी महत्वपूर्ण है। वात्सल्य भाव भक्ति का शुद्ध भाव है जिसे इष्टदेव के नाम , रूप, गुण, व्यापार तथा किसी बाह्य परिस्थिति की अपेक्षा नहीं। वात्सल्य-भक्ति की विशेषता है- वासनारहित, शुद्ध, हार्दिक अनुराग। वात्सल्य भक्ति अन्य सब प्रकार की भक्तियों से उच्च प्रतीत होगी, क्यों कि वात्सल्य-भाव में किसी भी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध तक नहीं होती; अतएव इसे हम निष्काम भक्ति का पोषक कह सकते हैं।यह एक व्यापक भाव है; क्यों कि इसकी स्थिति प्राणिमात्र में होती है।

'सूरसागर' में कृष्ण के बालक-रूप की उपासना में वात्सल्य भक्ति की अभिव्यक्ति हुई है। सूर के वात्सल्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं-" यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है , 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाये हुए हैं।"(54) सूरदास के वात्सल्य-भाव का आश्रय केवल

यशोदा ही नहीं-यद्यपि इसकी पूर्ण निष्पत्ति यशोदा में ही दिखाई गई है और अन्य पात्रों का वात्सल्य तो मानो तुलना के द्वारा यशोदा के वात्सल्य भाव की पूर्ण अनुभूति केलिए ही चित्रित किया गया है। नन्द वात्सल्य-भाव के दूसरे पात्र हैं। व्रज की वयस्क नारियों में भी इस वात्सल्य भाव के दर्शन होते हैं। वसुदेव-देवकी में भी इस भाव की थोडी सी छाया हैं, किन्तु उसमें इतनी अधिक सघनता नहीं, क्योंकि उनके भाव का आश्रय शिशु कन्हैया न होकर ऐश्वर्यशाली, प्रतापवान पुत्र कृष्ण है। यशोदा में ही वात्सल्य की परिपक्वता है, जो भक्ति रस की कोटि तक पहूँचा है। वात्सल्य-भाव के आलम्बन बालकृष्ण है और उनकी लीलाएँ उद्दीपन का कार्य करती है। वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में रखकर कवि ने यशोदा को देखा है।

बालकृष्ण की छवि (रूप माधुरी) और बालक्रीडाएँ यशोदा को हर्षोल्लास के चरम सीमा तक पहूँचाने का अनेक सुन्दर दृश्य सूरसागर में दीख पडते हैं। रूप माधुरी पर अपने को निछावर करनेवाली यशोदा का चित्र देखिए-

"ललन हौं या छवि ऊपर वारि।

बाल गोपाल लगौ इन नैननि रोग-बलाइ तुम्हारी।।

लट-लटकनि,मोहन मसि-बिंदुका-तिलक भाल सुखकारी।

मनौ कमल-दल सावक पेखत, उडत मधुप छबि न्यारी।।

लोचन ललित, कपोलनि काजर, छवि उपजति अधिकारी।

सुख मैं सुख औरे रुचि बाढ़ति हँसत देत किलकारी।।

अल्प दसन, कलबल करि बोलनि, बुधि नहिं परत बिचारी।

बिकसति ज्योति अधर-बिच, मानो विधु मैं बिज्रु उज्यारि।।

सुन्दरता कौ पार न पावति, रूप देखि महतारी।

'सूर' सिंधु की बूँद भई, मिलि मति-गति-दृष्टि हमारी।।(55)

(यशोदा जी कह रही है- लला, मैं तुम्हारी इस शोभा पर निछावर हुई जा रही हूँ। हे बाल गोपाल, भगवान करे कि तुम्हारे सारे रोग-दोष मेरी इन आँखों को लग जाएँ। तुम्हें कोई रोग-दोष न लगे। तुम्हारी अलकें कैसी लटकी पड रही हैं, ये देखने में बडी भली लगती हैं। तुम्हारे मस्तक पर लगा हुआ काजल का तिलक और बिंदी तो मन को मोह लेने वाली और अत्यन्त सुख देनेवाली है। ये काजल की बिंदु जैसे भौरों के बच्चे हों, जो मस्तक रूपी कमल की पंखुडियों पर बैठे हुए हों, और ये अलकें तो ऐसी हैं मानो भौरे अपने बच्चों को देखते हुए अद्भुत शोभा को प्राप्त हो रहे हों। तुम्हारी आँखें तो अत्यन्त सुंदर है। तुम्हारे कपोलों पर काजल का टिप्पा भी अत्यधिक छवि बढ़ाए दे रहा है। इन्हें देखकर मुझे भारी सुख मिलता है। इस पर तुम जब हँसते हुए किलकारी मारने लगते हो, तब तो मेरे सुख में और भी सुख बढ़ जाता है। तुम्हारे छोटे छोटे दाँत हैं। तुम अभी अटक-अटक कर बोलते हो। ये मुझे इतने अच्छे लगते हैं कि मेरी बुद्धि इनका अनुमान भी नहीं कर पाती। जब तुम्हारे अधरों से मुसकान की ज्योति फूट पडती है, तब लगता है जैसे चन्द्रमा में बिजली कौंधी जा रही है। मैं तुम्हारी मैया तुम्हारे रूप को देखकर उसका ओर-छोर नहीं पाती। तुम्हारे रूप का सागर अपार है। मेरी मति, मेरी गति, मेरी दृष्टि इस रूप सागर में एक बूँद के समान होकर इस प्रकार मिल गई है कि खोजने पर भी नहीं मिलती)।

174

श्रीकृष्ण की बाल-क्रीडाएँ देखकर उसका आस्वादन करनेवाले माता-पिता(नन्द बाबा और यशोदा मैया) का चित्रण यहाँ प्रस्तुत है-

" घुटुरनि चलत स्याम मनि आँगन, मातु-पितु दोऊ देखत री।

कबहुँक किलकि तात-मुख हेरत, कबहुँ मातु-मुख पेखत री।।

लटकन लटकत ललित भाल पर, काजर-बिंदु भ्रुव ऊपर री।

यह शोभा नैननि भरि देखैं,नहिं उपमा तिहुँ भू पर री।।

कबहुँक दौरि घुटुरवनि लपकत, गिरत,उठत,पुनि धावै री।

इततैं नँद बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री।।

दंपति होड़ करत आपुस मैं, स्याम खिलौना कीन्हौ री।

'सूरदास' प्रभु ब्रह्म सनातन, सुत-हित करि दोउ लीन्हौं री।।(56)

(मणि जटित आँगन में श्याम घुटनों के बल पर चल रहे हैं। यशोदा मैया और नन्द बाबा दोनों उनका चलना देख रहे हैं। कन्हैया कभी किलकारी मारकर नन्द बाबा का मूख देखने लगते हैं और कभी यशोदा मैया का। उनके सुन्दर ललाट पर अलक में बँधा हुआ रंग-बिरंगी मणियों का लटकन लटक रहा है। भौंहों के ऊपर काजल का टिप्पा लगा हुआ है। नन्द और यशोदा कन्हैया की इस शोभा को आँख भरकर देखे जा रहे हैं। इस सौंदर्य की उपमा तो तीनों लोकों में कहीं भी सुलभ नहीं है। वे कभी घुटनों के बल दौड पडते हैं, आगे लपकते (बढ़ते) हैं, गिर पड़ते हैं और पुन: उठकर दौड पड़ते हैं। इधर से नन्द उन्हें बुला रहे हैं, और उधर से यशोदा मैया, दंपति परस्पर बाजी लगा रहे हैं कि देखें श्याम किसकी ओर आता है। प्रभु हैं तो सनातन ब्रह्म, पर नन्द-यशोदा ने उन्हें अपना पुत्र मान लिया है और उससे प्रेम किए जा रहे हैं।)

175

वात्सल्य के वियोग पक्ष में माता यशोदा इतनी पगली हो जाती है कि उसका आपा खो जाती है। जब अक्रूर बाल कृष्ण को मथुरा ले जाते हैं तो यशोदा कहती है--

"जसोदा बार- बार यौं भाखै।

है कोउ व्रज मैं हितू हमारौ,चलत गुपालहिं राखै।।

कहा काज मेरे छगन मगन कौं,नृप मधुपुरी बुलायौ।

सुफलक-सुत मेरे प्रान हरन कौं,काल-रूप ह्वै आयौ।।

.....

.....

'सूर'कहाँ लगि प्रगटि जनाऊँ, दुखित नंद जु की रानी।।(57)

(यशोदा दरवाज़े-दरवाज़े पर बार-बार रोती हुई कह रही है- क्या इस व्रज में हमारा कोई ऐसा हितैषी है, जो गोपाल को मधुपुरी जाने से रोक रखे? राजा कंस ने इनको मधुपुरी बुला रखा है। उसे मेरे इन नन्हे-मुन्नों से भला कौन सा काम है। सुफलक के पुत्र अक्रूर जैसे मेरे प्राण लेने केलिए ही मेरी मौत बनकर यहाँ आए हैं।.....मैं सूर नन्द की रानी यशोदा की पीडा कहाँ तक कह सुनाऊँ?)

कृष्ण के चले जाने पर यशोदा चिन्तित होती है कि अपने बेटे का खान-पान, रहन-सहन, का क्या होगा। वह विश्वास ही नहीं कर सकती कि उसके समान उसके 'लाल' की देखभाल कोई अन्य व्यक्ति कर

सकता है। यह एक शाश्वत,सार्वभौम, मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसका अभिव्यंजन सूर ने निम्नलिखित पद में कितनी खूबी के साथ किया है—

"सँदेसो देवकी सौ कहियौ।

हौ तो धाइ तिहारे सुत की, दया करत ही रहियौ।

जदपि देव तुम जानति ह्वै हौ, तऊ मोहि कहि आवै।

प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैं, माखन रोटी भावै।

तेल उबटनो अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।

जोइ- जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम क्रम करि कै न्हाते।

सूर पथिक सुनि, मोहि रैनि, दिन बढ्यौ रहत डर सोच।

मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन, ह्वै है करत संकोच।।(58)

वात्सल्य के संयोग पक्ष में यशोदा का ह्दय स्नेह, आनंद, अभिलाषा, आक्रोश, विस्मय, खीझ और गर्व से पूरित है; हर्षातिरेक तो उनके रोम रोम से प्रकट होता दिखाई पडता है। वियोग में दैन्य, विवशता, विकलता, स्मृति, अधीरता, विरक्ति, उदासीनता और तीव्र लालसा आदि भावों से यशोदा का ह्दय भरा हुआ है।

'नारायणीयम' में प्रेम भक्ति का वात्सल्य भाव श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा यात्रा तक के विभिन्न दशकों में विभिन्न रूपों में देखने को मिलता है। (दशक-38 से 73 तक के) श्रीकृष्ण के माता-पिता देवकी-वसुदेव से बढ़कर नन्द-यशोदा आदि में ही वात्सल्य भक्ति प्रकट है। गोकुल, वृन्दावन आदि जगहों में रहते समय अपनी बाल -सहज लीलाओं से

श्रीकृष्ण ने हर एक का मन वात्सल्य प्रेम से भरा दिया। यशोदा, नन्दगोप, अन्य प्रौढ़ गोप गण तथा गोपिकाएँ आदि श्रीकृष्ण के प्रति अपने अपने अनन्य वात्सल्य प्रेम (भक्ति) में प्रक्षालित हुए है।

भट्टतिरि का कहना है कि यशोदा के भाग्य की सीमा नहीं। क्योंकि उन्हें भगवान को प्रत्यक्ष रूप से देखने, शरीर को स्पर्श करते और स्तन्य पान कराने तक का अवसर मिला था। नन्द गोप की दशा भी कम नहीं। उन्होंने भी पुत्र जन्म की खुशी में, पुत्र के प्रति वात्सल्य के कारण उसके कुशलों के लिए ब्राह्मणों को बहुत कुछ दान में दिया।

"अहो! खलु यशोदया नवकळायचेतोहरम्

भवन्तमलमन्तिके प्रथममापिबन्त्या दृशा

पुन: स्तनभरं निजं सपदि पाययन्त्या मुदा

मनोहरतनुस्पृशा जगति पुण्यवन्तो जिता:"।

"भवत्कुशलकाम्यया स खलु नन्दगोपस्तदा

प्रमोदभरसङ्कुलो द्विजकुलायकिन्नाददात्

तथैव पशुपालका: किमु न मङ्गलं तेनिरे

जगत्त्रितयमङ्गळ, त्वमिह पाहि मामामयात"।(59)

अपने सन्तान को स्तन-पान कराते हुए हर माताएँ वात्सल्य प्रेम के चरमोत्कर्ष तक पहूँचती हैं। ऐसी दशा का अनुभव और भी अधिक रूप से यशोदा प्राप्त करती है,यह बात भट्टतिरि ने पूतना मोक्ष, बाल-लीला आदि प्रसंगों में प्रस्तुत किये हैं। नन्द गोप के मन में भी अपने बेटे के

प्रति वात्सल्य प्रेम इतना अधिक है कि वे भी अपने पुत्र को आलिंगन और चुम्बन देना चाहते थे। इसके लिए एक सुन्दर दृष्टांत भट्टतिरि ने नारायणीयम में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं-

"अये! सुतं देहि जगत्पते:कृपा-

तरंगपातात् परिपातमद्य मे

इति स्म संगृह्य पिता त्वदंगकम्

मुहुर्मुहु: श्लिष्यति जातकण्टक:।।"(60)

आज जगदीश्वर की करुणा की तरंगों के हम पर पड जाने से मेरा बच्चा बच गया। उसे मेरे हाथों में दे दो। यों कहकर नन्द ने यशोदा के हाथों से आप को ले लिया और बार बार गले लगा लिया। यों करते हुए उनका शरीर रोमांचित हो उठा।

यहाँ भट्टतिरि का आशय है कि अपने बच्चे को गोद में लेने और चूमने के लिए थोडा बल करना पडा। क्योंकि ऐसी वेला में (विपत्ति से बचने की) कोई भी माता बच्चे को और किसी के हाथ में –पिता के भी-नहीं देना चाहती। वैसे यशोदा भी नन्द गोप के हाथ में कृष्ण को देना नहीं चाहती थी। यहाँ माता-पिता के बच्चों के प्रति वात्सल्य का अनुपम दृश्य मिलते है।

दशक 45 में जो बाल-लीला का प्रसंग है, यहाँ श्रीकृष्ण और बलराम की बाल सहज लीलाएँ देखकर सिर्फ यशोदा-नन्द गोपों के ही नहीं अन्य गोप-गोपियों के ही मन में उनके प्रति वात्सल्य का भाव फूट पडते हैं। घुटनों के बल पर चलने वाले कृष्ण और बलराम का वर्णन भट्टतिरि ने अत्यन्त मन मोहक ढंग से किया है।

एक-दो उदाहरण देखिए-

अनुसरति जनौघे कौतुकव्याकुलाक्षे

किमपि कृतनिनादं व्याहसन्तौ द्रवन्तौ

वलितवदनपद्मं पृष्ठतो दत्तदृष्टी

किमिव न विदधाते कौतुकं, वावसुदेव।(61)

(हे वासुदेव, जब कौतुक-भरे नेत्रों से गोप और गोपिकाएँ आप दोनों के(कृष्ण और बलराम) पीछे पीछे आते थे, तब कुछ अव्यक्त स्वर करते तथा हँसते हुए आप दोनों भाग जाते थे और मुख-कमल मोडे पीछे को देखते थे। आप दोनों इस तरह दर्शकों के मन में क्या क्या कौतुक पैदा नहीं करते थे।) गोप गोपियों का बच्चों के पीछे लग जाना और बालकों को पकड में लाने की चेष्टा करना और बच्चों का पीछे को देखते हुए भाग जाना आदि सहज एवं स्वाभाविक वर्णन भट्टतिरि ने यहाँ दिया है। शिशुओं के ऐसे लीला-विनोद घर-घर में प्रतिदिन हम देखते हैं।

स्नुतकुचभरमङ्के धारयन्ती भवन्तम्

तरळमति यशोदा स्तन्यदा धन्यधन्या

कपटपशुप! मध्ये मुग्धहासाङ्कुरं ते

दशनमुकुळहृद्यं वीक्ष्य वक्त्रं जहर्ष।(62)

'नारायणीयम्' में भी वात्सल्य प्रेम का उत्तम दृष्टांत यशोदा ही है। अपने पुत्र के हर सुख में सुख का अनुभव करने के साथ साथ उसके नटखटपन में वह दण्ड देने को भी तैयार होती है। श्रीकृष्ण के मिट्टी

खाने के प्रसंग में यशोदा कृष्ण को मारने के लिए लाठी उठाती है। फिर एक बार दधि मंथन करते समय स्तन्य पान करने आये बच्चे को स्तन तो पिला दिया। लेकिन बीच मं आग में लगे दूध को निकालने के लिए यशोदा रसोई चली। तब स्तन-पान में बाधा होने से क्रूद्ध होकर श्रीकृष्ण ने मथनी लेकर हाँडी पर मारा और उसे तोड दिया। इस में क्रूद्ध होकर माता यशोदा उसे दण्ड देने के लिए ओखली में बाँध देती है।

वैसे हम देखते हैं कि बार बार आने वाली विपत्ति में बचने वाले श्रीकृष्ण को देखकर माता यशोदा आनन्द विभोर हो जाती है और विपत्ति के बारे में सोचकर शोकाकुल होकर ईश्वर से अपने बच्चे को हर विपत्ति से बचा लेने की प्रार्थना भी करती है। वैसे हम देख पाते हैं कि नारायणीयम् में यशोदा वात्सल्य भक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है।

गोपिकाएँ ही नहीं वृन्दावन के गाएँ भी श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य ही दिखाती हैं। इसका एक मनोरम चित्र दशक 52 में 'ब्रह्म गर्व शमन' देखने को मिलते है। कालियदमन, अघासुर मोक्ष आदि घटनाएँ देखकर ब्रह्म देव को श्रीकृष्ण के अतिशय वैभव की परीक्षा कर लेने की इच्छा हुई। इसलिए उन्होंने पहले बछडों को गायब कर दिया फिर कृष्ण के साथी गोप बालकों को। श्रीकृष्ण सब समझ लेता है और स्वयं बछडे, गोप बालक,छींके, पात्र, मुरली,सींग का बाजा आदि बनकर शाम को व्रज वापस आते हैं। व्रज वापस आये बछडों, गोप बालकों से उनकी माताओं के मन में पहले से बढ़कर सीमातीत वात्सल्य भाव उमड पडता है। कवि के मत में उस समय उनके आनन्द का कोई सीमा ही न था।

जीवं हि क्ष्विदभिमानवशात् स्वकीयम

मत्वा तनूज इति रागभरं वहन्त्य:

आत्मानमेव तु भवन्तमवाप्य सूनुम्

प्रीतिं ययुर्न कियतीं वनिताश्चगाव:।(63)

(अब तक प्रत्येक गोपवधु और गाय किसी जीव को अभिमान से (ममता भाव से) पुत्र मानकर उसके प्रति गहरा प्रेम वहन कर रही थी। आज तो उन सबको पुत्र रूप में स्वयं परमात्मा ही मिल गया। ऐसी अवस्था में उन्हें कितने ही आनन्द का अनुभव न होता होगा।) स्वयं भगवान को ही अपने पुत्र रूपेण पाकर उन सबका आनन्द असीम हो जाना तो बिलकुल स्वाभाविक है।

प्रेम भक्ति के वात्सल्य भाव का वर्णन सूर और भट्टतिरि ने अत्यन्त मोहक ढंग से किया है। जन्म देने वाले देवकी-वसुदेव से लेकर यशोदा-नन्दगोप, गोकुल, वृन्दावन आदि जगह के सभी प्राणि मात्र के, श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य प्रेम को दोनों ने अपनी अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किये हैं। श्रीकृष्ण के बाल-सहज लीलाओं से जितने गोकुल और वृन्दावन के लोगों का मन भरे है, सब वात्सल्य भक्ति का उदात्त रूप है। सूर और भट्टतिरि दोनों मानते हैं कि यशोदा के भाग्य का कोई सीमा नहीं। क्यों कि भगवान श्रीकृष्ण को दूध पिलाने, नहलाने, सुलाने का अधिकार उन्हें प्राप्त हुआ है। यहाँ तक कि बालक कृष्ण को दण्ड देने को भी वह तैयार हो जाती है। नन्दगोप के वात्सल्य का भी वर्णन उन दोनों ने किया है। साथ ही अन्य गोप-गोपिकाएँ, गोकुल और वृन्दावन की गाएँ, आदि के भी वात्सल्य वर्णन दोनों ने किया है।

सूरदास वात्सल्य के संयोग एवं वियोग पक्ष का खूब वर्णन किया है। लेकिन भट्टतिरि ने केवल संयोग पक्ष का ही वर्णन किया है। वियोग पक्ष को उन्होंने छोडा है। वैसे तो नन्दगोप के वात्सल्य का

वर्णन करते समय भट्टतिरि ने नन्दगोप के पुत्र प्रेम की जो तीव्रता प्रकट की है, उतनी तीव्रता सूर ने नहीं दर्शाया है। सूर ने तो मातृ वात्सल्य को ही अधिक बल दिया है। श्रीकृष्ण की रूप माधुरी का सूरदास ने खूब वर्णन किया है, परंतु भट्टतिरि ने सिर्फ सूचना ही दिया है कि कृष्ण की बाल छवि अत्यन्त मोहक है।

5.2.4.माधुर्य भक्ति

माधुर्य भाव की भक्ति श्रृंगार-प्रेम की भक्ति कही जा सकती है।लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते हैं, वे सभी मधुर भक्ति में आ जाते है,अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड दिया जाता है। लोक पक्ष में जिसे श्रृंगार रस कहलाता है, भक्ति पक्ष में वही मधुर रस कहलाता है। इस भक्ति रस में कान्तारूपा प्रेम कामरूपा भी हो सकती है और संबन्ध रूपा भी।

सूरदास ने भक्ति धर्म के इस माधुर्य भाव को सब से अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इस भाव के आधार पर इष्टदेव के साथ जिस निकटता और घनिष्ठता का संबन्ध स्थापित हो सकता है, वह अन्य भावों के आधार पर संभव नहीं है। सूरदास के भक्ति-धर्म में काम भाव को दुर्दम समझकर उसे लौकिक रूप में कल्पित अलौकिक एवं भाव-रूप, श्रेष्ठ विषय में नियोजित करने का विधान किया गया है। भक्त कवि सूरदास के काव्य में रति-भाव और माधुर्य-भाव का ऐसा समन्वित रूप है कि दोनों अभिन्न बन गये हैं। लोकबद्ध मानव-विषयक काम ही ईश्वर-विषयक होने पर अलौकिक प्रेम बन जाता है। लौकिक ऐद्रिक काम के अलौकिक अतीन्द्रिय भाव को भागवत् स्वरूप में नियोजित करने में ही सूरदास के भक्ति काव्य की सफलता है। संपूर्ण बाधा-बन्धनों, आसक्ति-प्रलोभनों एवं विधि-निषेध से उन्मुक्त होकर गोपी

भाव से सर्वात्म-समर्पण ही मधुर भक्ति की चरम अवस्था है। जिसकी 'सूरसागर' में सफल व्यंजना है।

सूरदास की माधुर्य भक्ति रस कान्तारूपा, कामरूपा और संबन्धरूपा प्रीति से युक्त है। इसीलिए हम भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव राधा में देखते हैं। सूर ने स्त्री-भाव को प्रधानता दी है, लेकिन परकीया की अपेक्षा स्वकीया भाव को अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्ठता का संबन्ध स्थापित किया है। उनकी भक्ति-भावना स्त्री-भाव से ओत-प्रोत है, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती है। वे कृष्ण में इतने तल्लीन है कि उनकी (गोपियों की) कामरूपा प्रीति निष्काम हैं। इसलिए संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एकरूप हैं। आत्म-समर्पण और अनन्य भाव माधुर्य भक्ति के लिए आवश्यक हैं, जो 'सूरसागर' की दान-लीला, चीरहरण, और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं। सूर की दान-लीला में मधुर रति की परम-परिणति कही गई है। गोपियों के पूर्व राग से प्रारंभ करके मधुर भक्ति का क्रमिक विकास सूर ने चित्रित किया है। पूर्व राग की

अवस्था में गोपियों ने कुल-मर्यादा का अतिक्रमण किया है। इसके पश्चात् संयोग रति की पूर्णावस्था मिलन में दिखाई पडती है।

दानलीला के एक प्रसंग देखिए-

'भोरहिं कान्ह करत कत झगरौ।

औरनि छाँडि परे हठ हमसौं, दिन प्रति कलह करत, गहि डगरौ।

.....

परम मगन ह्वै रही चितै मुख, सब तें भाग याहि कौ अगरौ'।(64)

184

(कृष्ण प्रेम में मग्न गोपी को रास्ते से गुज़रते वक्त कृष्ण रोकते हैं और उसे छेडते हैं। तब मन ही मन उसमें आनन्द का अनुभव करने पर भी वह गोपी कृष्ण से कहती है- कन्हैया तुम क्यों मुझसे दही छीनते हो और मेरा आँचल पकडकर खींचते हो। मुझे जाने दो, देर हो रही हैं। यह सुनकर श्याम ने उसे छोड दिया। लेकिन गोपी का मन श्याम के स्नेह में बँधा हुआ था, इसलिए कृष्ण के छोडने पर भी उसके पैर रास्ते पर आगे नहीं बढ़ पा रहे थे। वह श्याम का मुख देखकर अत्यंत पुलकित हो उठी थी। सबसे आगे, सबसे बढ़कर, भाग्य तो इसीका है।)

चीरहरण लीला में कृष्ण प्रेम में आत्म समर्पण करनेवाली गोपियों का हृदयहारी चित्र सूरदास ने खींच लिया है। एक उदाहरण देखिए-

'हमारे देहु मनोहर चीर।

काँपति, सीत तनहिं अति व्यापत, हिम सम जमुना-नीर।

मानहिंगी उपकार राबरौ, करौ कृपा बलबीर।

.....

ह्वै कृपाल सूरज प्रभु, अंबर दीन्हे परमानन्द'।।(65)

(गोपियाँ नन्दनन्दन से निवेदन कर रही हैं- 'हे हमारे मन को हर लेनेवाले मनोहर मनमोहन, अब हमारे चीर हमें दे दो। यमुना का जल बर्फ के समान ठंडा है। हमें बहुत ठंडक लग रही है। हम ठंड के मारे काँपी जा रही हैं। हे बलदाऊ के भैया

किसन श्यामसुन्दर हम पर कृपा करो। हम तुम्हारा बहुत बड़ा उपकार मानेंगी, और कृतज्ञ बनी रहेंगी। हमारे प्राण अत्यन्त दुखित हो रहे हैं। बडी तेज़ हवा भी हमारे शरीर को छूए जा रही है। हम

तुम्हारी दासी हैं। तुम हमारे स्वामी हो। हम जल में खडी-खडी तुम्हीं को तो देखे जा रही हैं। जैसे हम अर्द्ध प्रफुल्ल कुमुदिनियाँ हैं और तुम पूर्ण चन्द्र हो। कुमुदिनि का शशि से जितना प्रेम है, हमारा तुम्हारे प्रति उससे अधिक ही है'।

तब कृष्ण बोले- यदि तुम सब मुझे अपना स्वामी स्वीकारती हो, तो जो हम कहें, तुम वह करो। हमारी माँग तुम पूरी करो, जल से निकलकर बाहर आ जाओ और अपने चीर ले लो ।

तब वे व्रजांगनाएँ अपने अपने सिरों पर हाथ रखे हुए ,खुले बदन हरि के सामने आ गईं और मन में आनंदित भी हुई। तभी कृष्ण ने दया करके ,परम मुदित हो करके उनके चीर उन्हें दे दिया।

रासलीला प्रसंग में सूर ने गोपियों के कृष्ण प्रेम तथा कृष्ण प्राप्ति से उत्पन्न गर्व तथा उसे मिटाने केलिए कृष्ण का अन्तर्धान होना, गोपियों का पश्चातप, फिर मिलन, रासलीला आदि का वर्णन अत्यंन्त रोचक ढ़ग से किया है। माधुर्य प्रेम का पराकाष्ठा है मिलन-वेला। अनेक गपियों की इच्छा पूर्ति कृष्ण ने जिस अलौकिक ढ़ग से किया है, प्रेम भक्ति का उदात्त भाव है। इसका चित्रण सूर ने यहाँ प्रस्तुत किया है। एक-दो उदाहरण देखिए-

नन्द कुमार रास रस कीन्हौ। ब्रज तरुननि मिलि कै सुख दीन्हौ।।

अद्भुत कौतुक प्रगट दिखायौ।कियो स्याम सबहिनि मन भायौ।।

.....

सूरस्याम जुवतिनि सुखदाई। तिनके जिय अति गर्व बढ़ाई।।(66)

(नन्दकु मार ने रसमय रास-नृत्य किया। उन्होंने मिलकर ब्रज की तरुणियों को पूर्णसुख दिया। उन्होंने अद्भुत कौतुक कर

दिखलाया- वे थे एक, पर हो गये अनेक, उतने जितनी गोपिकाएँ थीं। उन्होंने हर गोपी का मनभाया करके उन्हें संतुष्ट कर दिया। हर दो गोपियों के बीच गोपाल ऐसे लग रहे थे , जैसे

स्वर्ण और नीलम की माला सुशोभित हो रही हो। मंडल के केन्द्र में राधा और श्याम विराजमान थे और तीनों लोकों की शोभा के समान दमक रहे थे। उन्होंने रास के रंग और रस को इतना विशद बना या कि उसमें नाना प्रकार के हाव-भाव और न्यारी-न्यारी गतियाँ प्रकट हो उठीं। अपने रूप और गुणों से मर्म को उद्घाटित करके नृत्य करती हुई राधा के अंग थककर शिथिल हो गए। तब उमंग में आकर श्याम ने राधा को हृदय से लगा लिया और कहने लगे- तुमने बडा श्रम किया है और अब थक गई हो। फिर दोनों ने गले से गला और बाँहों से बाँह मिला लिए। वे बादल और बिजली के समान ऐसे लिपट गए कि छुडाने पर भी छुट नहीं पाए। इसकी रसानुभूति केवल राधा को ही नहीं हुई, हर गोपी को हुई और युवतियों को सुख देनेवाले श्याम ने उनके मन में अत्यंत अभिमान भर दिया और हर एक समझने लगी कि श्याम हमारे ही बस में हैं।)

'रच्यो रास रंग स्याम, सबहिनि सुख दीन्हौ.

मुरली-सुर करि प्रकास, खग-मृग सुनि रस-उदास।

जुवतिनि तजि गेह बास, बनहिं गवन कीन्हौ।

.....

उलटि बहति जमुन-धार, बिपरित सबही बिचार,

सूरज प्रभु संग नारि, कौतुक उपजावै।।(67)

(श्याम ने आनन्दमय रास रच दिया और सभी गोपियों को सुख दिया। कन्हैया ने मुरली क्या बजाई, उन्होंने खगों को

फल खाने के रस से और पशुओं को चरने के रस से विरक्त कर दिया। युवतियों ने तो अपना घर-बार सब छोड दिया और वन में चली गई। देवता, दानव, नाग सभी मुरली की ध्वनि पर मोहित हो गए। मुनिलोग भी अपनी-अपनी ध्यानावस्थितता से जाग उठे। शिव, शारदा और नारद जैसे ज्ञानी भी चकित हो उठे। देवताओं के साथ उनकी देवियाँ भी अपने-अपने लोकों के आरामों को बिसरा कर, उन्हें छोड-छोडकर, आ गईं और कहने लगीं- धन्य है वह स्वर-लहरी, धन्य है। पवन का चलना बंद हो गया, चन्द्रमा भी धैर्य छोड़ उठा, तारे भी लजा गए। वे अपना कक्षा पथ भूल गए और रास्ता नहीं पा रहे। यमुना की जल धारा उलटी बहने लगी। श्याम ने गोपियों के साथ ऐसी क्रीड़ा कर दी कि संसार का सारा कारोबार, सारा विचार ही विपरीत हो गया, उलट गया।)

विरह की अवस्था को प्रेम भक्ति के आध्यात्मिक साधन में बडा महत्व है। सूर का विरह संयोग से ही अधिक प्रबल है। मधुर-भक्ति की आश्रय स्वरूपा गोपियाँ कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-योग-साधन उन्हें निरर्थक प्रतीत होते हैं और वे उनका मज़ाक उडाती हैं। गोपियों की इन्द्रियों के व्यापार, कृष्ण की रूप माधुरी के आस्वादन और सरस लीला में लग चुके हैं, इसलिए सूर उन्हें विषय-विमुख कर विरक्ति का उपदेश नहीं देते, प्रत्युत उसके महत्व का ही प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार माधुर्य भाव की भक्ति का पूर्णतया निरूपण कर सूर ने कृष्ण के संयोग-वियोगात्मक श्रृंगार-रस रूप इष्टदेव की उपासना को प्राधान्य दिया। सूर की यह भक्ति-भावना उनकी वैराग्य समन्वित भक्ति-भावना से नितान्त भिन्न है। सूर के विरह-प्रेम को उद्घोषित करनेवाले 'भ्रमर गीत' में माधुर्य-भाव की भक्ति के समक्ष ज्ञान, योग, यज्ञ, व्रत, पूजा आदि सभी की हीनता प्रदर्शित की गई है।

" ऊधौ, तुम जु निकट के वासी।

यह परमारथ बूझि कहौ किन, नाम बड़ौ की कासी।।

जोग न ज्ञान ध्यान अवसधन, साधन मुक्ति उदासी।

आन प्रकार कहा रुचि मानहिं, जे गोपाल उपासी।।

परमारथी जहाँ लौं जेते, बिरहिनि के दुखदाई।

'सूरदास' प्रभु रँगी प्रेम-रँग, जारहिं जोग-सगाई।।"(68)

(ऊधौ, तुम तो हरि के अत्यन्त निकट रहनेवाले हो। उनसे तुमने जो यह परमार्थ ब्रह्म ज्ञान सीखा है, उसे बडे नाम वाली सुप्रसिद्ध काशी में जाकर क्यों नहीं वहां के लोगों को समझा देते? हम तो योग, ज्ञान, ध्यान, आराधना, साधना, मुक्ति आदि सभी से उदासीन हैं। इनमें से किसी में भी हमारी तनिक भी रुचि नहीं है। जो गोपालकृष्ण के उपासक हैं, वे किसी अन्य में कैसे रुचि ले सकते हैं। जितने भी परमार्थी या ब्रह्म ज्ञानी हैं, वे सभी हम विरहिनियों के लिए दुखदायक है। हम सब तो अपने प्रभु के प्रेम के रंग में रँगी हुई हैं। हम योग और उससे संबद्ध सभी बातों को आग लगाकर जला देना चाहती हैं।)

भक्ति धर्म की पूर्ण सिद्धि की अवस्था से परिचित होकर उद्धव अपना ज्ञान भूल जाता हैं और भक्ति के अनुयायी बन जाते हैं। स्वयं कृष्ण गोपियों के भाव की मार्मिक शब्दों में प्रशंसा करके मधुर रति की सर्वश्रेष्ठता व्यंजित करते हैं।(69)

श्रीकृष्ण के अवतार कथाओं में सब से हृदय हारी अंश है गोपिका प्रेम। गोपिकाओं के माधुर्य प्रेम को पवित्र करके उन्हें भगवान कृष्ण ने जीवन मुक्तावस्था तक पहूँचा दिया। प्रस्तुत कथा श्रीमद् भागवत् में विस्तृत रूप से दिया है। लेकिन 'नारायणीयम्' में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही इसका

प्रतिपादन हुआ है। परन्तु मार्मिक अंशों को छोडे बिना अत्यन्त क्षमता के साथ भट्टतिरि ने गोपी प्रेम को नारायणीयम् में दर्शाया है।अन्तिम दशक में उन्होंने श्रीकृष्ण के परम भक्त गोपिकाओं की भक्ति के आचार्य नारद के साथ भगवद् सामिप्य में साक्षात्कार कराया भी। भट्टतिरि ने गोपिका प्रेम को अपनी भक्ति के अंगी भाव का अंग बना दिया।

नारायणीयम् में माधुर्य भक्ति के उदाहरण दशक 59, 60, 65, 66, 67, 68,69,73,76,84, आदि में देखने को मिलते हैं।

दशक 59 में वेणुगान के प्रसंग में भट्टतिरि ने गोपिकाओं के मन में कृष्ण के प्रति जो मधुर भक्ति-प्रेम है उसका वर्णन किया है।

'त्वद्वपुर्नवकळायकोमलम्

प्रेमदोहनमशेषमोहनम्

ब्रह्मतत्वपरचिन्मुदात्मकम्

वीक्ष्य सम्मुमुहुरन्वहं स्त्रिय:'(70)

'मन्मथोन्मथितमानसा: क्रमा-

त्त्वद्विलोकनरतास्ततस्तत:

गोपिकास्तव न सेहिरे, हरे

काननोपगतिमप्यहर्म्मुखे'।(71)

(गोपिकाओं ने आप के उस शरीर को दिनों दिन देखकर मोहित हो गई, जो नये कलाय कुसुम के समान मृदुल, प्रेम को बढ़ानेवाला, सब को मुग्ध करनेवाला तथा सच्चितानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही था।

हे हरे, ज्यों ज्यों दिन बीतते जाते थे, त्यों त्यों वे गोप वनिताएँ, जिन के मन कामदेव से मथित थे, आप को बार बार देखते रहने में तत्पर रहीं और आप का रोज़ सुबह वृन्दावन में जाना भी सह न पाई।)

कृष्ण आँखों से ओझल होने पर भी उनका मन कृष्ण से कदापि अलग नहीं हो पाता था, और उन्हीं के ध्यान में लगा रहता। उनके वापस आने तक ये गोपिकाएँ आपस में कृष्ण की लीलाओं की कथाएँ सुनती-सुनाती रहती हैं।

'निर्गते भवति दत्तदृष्टय-

स्त्वद्व्रतेन मनसा मृगेक्षणा:

वेणुनादमुपकर्ण्य दूरत-

स्त्वद्विलासकथयाभिरेमिरे'।(72)

(आपके बाहर (वृन्दावन को) जाने पर वे मृगनयनी युवतियाँ, आप में मन तथा नेत्र लगाये खडी रहती थीं और दूर से आप की वेणु का नाद सुनकर, आप की लीलाओं के वर्णन में बडे आनन्द से रम जाती थीं।)

गोपिकाओं की आँखें, कान, जीभ तथा मन जैसी सभी इन्द्रियाँ कृष्ण प्रेम में रत थी। भगवान के प्रति उनका यह प्रेम क्रमश: भक्ति में परिणत हो जाता है।

191

वन पहूँचकर किसी वृक्ष के नीचे (विपरीत क्रम से चरण रखकर) खडे होकर जब वे मुरली बजाते, तब घर घर में रही गोपिकाएँ कल्पना में उस दृश्य को देखती और आनन्द की मूर्छा में मग्न हो जाती थी।

'वेणुरन्ध्रतरळाङ्गुलीदळम्

ताळसंलितपादपल्लवम्

तत्स्थितं तव परोक्षमप्यहो!

संविचिन्त्य मुमुहुर्व्रजाङ्गना:।(73)

(व्रजवनिताएँ आप की उस खडे होने की स्थिति की, जिसमें आप की ऊँगलियाँ मुरली के छेदों पर चलती थीं और आप के चरण ताल देते हुए हिलते थे, परोक्ष होने पर भी, कल्पना करते हुए आनन्द की मूर्छा में मग्न हो जाती थीं।)

दशक 60 के वस्त्रापहरण प्रसंग में गोपिकाओं के मन में कृष्ण के प्रति प्रेम की तीव्रता दिखाई पडती है। कृष्ण को पति के रूप में प्राप्त होने के लिए वे गौरी पूजा करती हैं। कात्यायनी व्रत के अन्तिम दिन जब गोपिकाएँ जल-क्रीडा के लिए वस्त्र उतारकर किनारे पर रखी और यमुना में उतरी, तब श्रीकृष्ण उनके वस्त्र सब लेकर वृक्ष की शाखा पर चढ़ बैठे। फिर उन्होंने कहा-हे सुन्दरियो, यहाँ तक आकर अपने अपने कपडे चुनकर ले जाओ। गोपियाँ अपने को उनकी दासियाँ कहकर उनसे वस्त्र देने की विनती करती है। लेकिन कृष्ण सिर्फ़ मुस्कुराते रहे।

अन्त में गोपिकाएँ जल से निकलकर उनसे हाथ जोडती हैं। यहाँ गोपिकाओं का वास्तविक प्रेम को ही दर्शाया है। जहाँ प्रेम प्रबल है, वहाँ कोई शान-मान का भाव नहीं होगा।

'मदनातुरचेतसो न्वहम्

भवदङ्घ्रिद्वयदास्यकाम्यया

यमुनातटसीम्नि सैकतीम्

तरळाक्ष्यो गिरिजां समार्चितन्'।

से-

'अधिरुह्य तटं कृताञ्जली:

परिशुद्धा: स्वगतीर्निरीक्ष्य ता:

वसनान्यखिलान्यनुग्रहम्

पुनरेवं गिरमप्यदा मुदा'।(74) तक

माधुर्य प्रेम वास्तव में काम जन्य या श्रृंगार से युक्त है। दशक-65,66,67,68,69 में माधुर्य प्रेम का पूर्णतम रूप भट्टतिरि ने प्रस्तुत किया है। संभोग श्रृंगार का सुन्दर दृश्याविष्कार यहाँ हुआ है। फ़रक इतना है कि यहाँ प्रेम तो भगवान के प्रति है, व्यक्ति के प्रति नहीं। भगवान एक है और गोपिकाएँ अनेक हैं।

कृष्ण प्रेम में तल्लीन व्रजनारियाँ जब श्रीकृष्ण की मुरली की आवाज़ सुनी तब उनकी क्या क्या दशा थी इसका वर्णन दशक 65 में दिया है। इसका एक-दो उदाहरण देखिए-

‘ हारं नितम्बभुवि, काचन धारयन्ती

काञ्चीं च कण्ठभुवि, देव समागता त्वाम्

हारित्वमात्मजघनस्य, मुकुन्द, तुभ्यम्

व्यक्तं बभाष इव मुग्धमुखी विशेषात्’।(75)

(हे देव, मुकुन्द, कोई तरुणी हार को नितम्ब पर और करघनी को कण्ठ में धारण किये हुए आप के पास आई। ऐसा लगता था कि वह अपने जघन का विशेष हारित्व आप को स्पष्ट बता रही हो।)

‘काश्चित् गृहात् किल निरेतुमपारयन्त्य-

स्त्वामेव, देव, हृदये सुदृढं विभाव्य

देहं विधूय परचित्सुखरूपमेकम्

त्वामाविशन् परमिमा ननु धन्यधन्या’।(76)

(हे देव, कुछ युवतियों ने अपने को घर से निकलने में असमर्थ पाकर, आप का अच्छी तरह हृदय में ध्यान करते हुए शरीर छोड दिये और एक (अद्वितीय) चिदानन्दमय आप में प्रविष्ट हो गई। वास्तव में ये ही युवतियाँ परम धन्या है।)

कात्यायनी व्रत की समाप्ति में भगवान ने गोपिकाओं से जो प्रतिज्ञा ली थी उसी के अनुसार भगवान उनके अभीष्ट सिद्धि के लिए तैयार हो जाते हैं। वैसे रासक्रीडा संपन्न होती है। जब भगवान उन्हें प्राप्त हुई तब उनके मन में थोडा अहंकार जाग उठा। उसी क्षण भगवान उन्हें छोडकर चले गये। गोपिकाएँ अपने अहंकार सब छोडकर पूर्ण रूप से जब

तक कृष्ण प्रेम में तल्लीन नहीं हुई तब तक उनका दर्शन नहीं मिला। ये रोते-कलपते वन वन कृष्ण की खोज में घूमते –फिरे और विरह में तडपती रही। अन्त में उन्हें फ़िर कृष्ण की प्राप्ति होती है।

194

भगवान कृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों की जो दशा थी ,इसका वर्णन भट्टतिरि ने किस प्रकार दिया है, एक उदाहरण देखिए-

‘ हा चूत, हा चम्पक, कर्णिकार

हा मल्लिके, मालति, बालवल्य:

किं वीक्षितो नो हृदयैकचोर:’

इत्यादि तास्त्वत्प्रवणा विलेपु:’।(77)

“हाय हाय! हे आम के पेड, चंपे, कनियार, मालती, हे बाललताओ, क्या तुम ने हमारे हृदय-चोर को कहीं देखा?”-इस प्रकार वे गोपियाँ, जो आप से अनुराग करती थी, (पेड-पौधों से आप का पता लगाते हुए) रोने-कलपने लगी।

रासक्रीडा प्रसंग में प्रेम, मिलन, विरह, पुन:समागम जैसी माधुर्य प्रेम की विभिन्न दशाओं का मनोहर चित्रण हुआ है। लोकलाज कुल मर्यादा आदि सब छोडकर श्रीकृष्ण के चरणों पर पडी गोपिकाओं के प्रेम भक्ति के चरमोत्कर्ष रूप देखने के लिए भट्टतिरि को लेश मात्र भी हिचक नहीं है। यह दशक 69 के श्लोक 11 में हम देख सकते हैं-

“कामिनीरिति हि यामिनीषु खलु कामनीयकनिधे, भवान

पूर्णसम्मदरसार्णवं कमपि योगिगम्यमनुभावयत

ब्रह्मशंकरमुखानपीह पशुपांगनासु बहुमानयत

भक्तलोकगमनीयरूप, कमनीय कृष्ण परिपाहि माम्।।”(78)

195

(हे सौन्दर्य के धाम,भगवान, इस प्रकार आपने अनेक रातों में गोपिकाओं को पूर्णानन्द के उस अवर्णनीय रस समुद्र का अनुभव कराया जो योगियों मात्र केलिए उपलभ्य था। आप ने ब्रह्म, शंकर, आदि देवों के भी मन में उन ग्वाल-युवतियों के प्रति समादर का भाव

उत्पन्न कराया, अर्थात् वे भी उन नारियों को बडे आदर से मानने लगे। हे भक्त मात्र के लिए सुगम्य सुन्दर रूप कृष्ण, आप मेरी रक्षा करें।)

माधुर्य भक्ति के विरह पक्ष का भी वर्णन भट्टतिरि ने किया है। लेकिन भगवतकार या सूरदास के जैसे भ्रमर गीत के माध्यम से नहीं। उद्धव दूत्य प्रसंग के दशक 76 में सिर्फ़ तीन श्लोकों में भ्रमर गीत को सीमित किया है। इन तीनों श्लोकों द्वारा भट्टतिरि ने उद्धव से सुजनता, विनय, लाज आदि सभी भावों को भूलकर कृष्ण के प्रति अपने प्रेम और विरह के बारे में गोपिकाओं का कथन प्रतिपादित किया है। साथ ही कृष्ण के प्रति उनकी शिकायत है इसे भी प्रस्तुत किया है।

'दृष्ट्वा चैनं त्वदुपमलसद्वेषभूषाभिराम

स्मृत्वा स्मृत्वा तव विलसितान्युच्चकैस्तानि तानि

रुद्धालापा: कथमपि पुनर्गद्गदां वाचमूचु:

सौजन्यादीन् निजपरभिदामप्यलं विस्मरन्त्य:'।(79)

(आप के ही जैसे सुन्दर वेष-भूषाओं से उद्धव को देखकर तथा आप की विविध लीलाओं को, स्पष्टता से, याद कर उन सुन्दरियों की वाणी रुद्ध हो गई। फिर सुजनता एवं अपने-पराये का अन्तर भूलकर उन्होंने उद्धव से यों कहा।)

श्रीमन् किं त्वं पितृजनकृते प्रेषितो निर्द्दयेन

क्वासौ कान्तो नगरसुदृशां ? हा, हरे, नाथ! पाया:

आश्लेषाणाममृतवपुषो हन्त! ते चुम्बनाना-

मुन्मादानां कुहकवचसां विस्मरेत्, कान्त, का वा?(80)

हे श्रीमन्, क्या आपको उस निर्दय ने अपने माता-पिता के अर्थ (उन्हें प्रसन्न करने केलिए) भेजा है? नगर की सुन्दर आँखोंवाली नारियों का वह पति कहाँ है? हाय, हाय, हे हरे! नाथ हमारी रक्षा करें। हे प्रियतम, अमृत-स्वरूपवाले आपके आलिंगनों, चुम्बनों, उन्मत्त श्रृंगार-चेष्टाओं तथा कपट वचनों को कौन भूलेगा?

'रासक्रीडालुळितलळितं विश्लथत्केशपाशम्

मन्दोद्भिन्नश्रमजलकणं, लोभनीयम् त्वदङ्गम्

कारुण्याब्धे, सकृदपि समालिङ्गितुं दर्शयेति

प्रेमोन्मादाद् भुवनमदन, त्वत्प्रियास्त्वां विलेपु:'।(81)

(हे कृपासागर, रासक्रीडा में मथित होने से सुन्दर, खुले केशोंवाला मंद मंद निकली श्रम-बिन्दुओं से आर्द्र, एवं दूसरों को लुभानेवाला अपना शरीर हमें और एक बार दर्शा दें ताकि हम उसे गले लगा लें- इस प्रकार हे विश्व को मद-मत्त करनेवाले कामदेव, आप की वे प्रियतमायें आप के लिए विलाप करती रहीं।)

श्रीकृष्ण के गोचारण केलिए चले जाते वक्त उनकी अनुपस्थिति में गोपिकाओं के मन की दशा, रासक्रीडा के समय कृष्ण का अप्रत्यक्ष हो जाना और उनकी खोज में घूमते-फिरते विलाप करती गोपिकाओं

की दशा, आदि के माध्यम से भट्टतिरि ने कृष्ण प्रेम से उत्पन्न विरह का वर्णन अत्यन्त मार्मिक ढंग से किया है।

' दिनेषु च सुहृज्जनैस्सह वनेषु लीलापरम्

मनोभवमनोहरं रसितवेणुनादामृतम्

भवन्तममरीदृशाममृतपारणादायिनम्

विचिन्त्य किमु नालपन् विरहतापिता गोपिका:'।(82)

(दिन भर वन में साथियों के साथ खेलते, वेणु के नादामृत को बहाते और देवनारियों के नेत्रों को अमृत पान कराते रहनेवाले काम के समान सुन्दर आप के चिन्तन में मगन गोपिकाओं ने विरह के ताप से दग्ध होकर क्या क्या विलाप नहीं किया।)

प्रेम भक्ति का उदात्त एवं महत्वपूर्ण पक्ष है माधुर्य पक्ष। सूरदास और भट्टतिरि ने इस पक्ष का वर्णन अपने अपने ढंग से अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। माधुर्य पक्ष के दो भेद है-संयोग और वियोग। सूरदास ने संयोग पक्ष का वर्णन दान- लीला, चीर-हरण और रास-लीला में अत्यन्त तन्मयता से की है। वैसे नारायणीयम में भट्टतिरि ने भी चीरहरण (वस्त्रापहरण), रासलीला आदि में माधुर्य पक्ष के संयोग प्रेम का वर्णन अत्यन् सुन्दर ढंग से किया है। सूर और भट्टतिरि दोनों ने गोपी प्रेम का वर्णन भक्ति भाव को चरमोत्कर्ष में रखते हुए ही किया है। दोनों ने कृष्ण प्रेम में तल्लीन गोपिकाओं का आत्म-समर्पण, लोक-लाज, शान-मान

आदि का त्याग आदि विभिन्न भावों का उज्वल रूप प्रस्तुत किये हैं। सूरसागर और नारायणीयम में राधा-कृष्ण प्रेम का प्रतिपादन हुआ है। ब्रह्म ज्ञानी उद्धव का कृष्ण भक्त गोपिकाओं के सामने परास्त होने का वर्णन सूर और भट्टतिरि दोनों ने सरस शैली में किया है।

सूर ने माधुर्य भक्ति का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। लेकिन भट्टतिरि ने दशक 59 के वेणुगान से लेकर ही माधुर्य प्रेम को दर्शाया है। सूर ने गोपी-प्रेम के विरह पक्ष को ही अधिक महत्व दिया है। भ्रमर गीत इसका उदात्त उदाहरण है। सूर के पक्ष में प्रेम की तीव्रता विरह में ही है। लेकिन भट्टतिरि ने माधुर्य प्रेम के संयोग पक्ष को अधिक महत्व दिया है। उन्होंने विरह पक्ष को दर्शाया है, परंतु भ्रमर गीत के रूप में नहीं। भागवत् और सूरसागर में भ्रमर गीत का विशद वर्णन है, लेकिन भट्टतिरि ने सिर्फ तीन श्लोकों में भ्रमर गीत का वर्णन सीमित किया।

5.2.4.1.आत्म-निवेदन

आत्म-निवेदन माधुर्य- भाव का अन्तिम सीढ़ी है। इसी का एक पक्ष शरणागति है। सूरदास जी की भक्ति-साधना में शरणागति का बडा महत्व है। उनके विनय के पदों में इस प्रकार के अनेक पद है। वे स्वयं भगवान कृष्ण के आगे शरणागत बनकर आये थे। अन्य पात्रों के माध्यम से भी उन्होंने अपने इष्ट देव से आत्म-निवेदन प्रकट किया है। गोवर्द्धन उद्धार के बाद परास्त हुए इन्द्र को अन्य देवतागण समझा देते है-

" सरन गए जो होइ,सु होइ।

वे करता, वेई हैं हरता, अब न रहौ मुख गोइ।।

ब्राज अवतार कह्यौ है श्रीमुख, तेई करत बिहार।

सूर रच्यौ उनहीं कौ सुरपति ,मैं भूल्यौ तिहिं आस।।(83)

अब आप ब्रजराज कृष्ण की शरण में चुपचाप चले चलिए। जो कुछ होना है, वही होगा। वे ही कर्ता है, वे ही हर्ता हैं। अब उनसे मुँह छिपाकर यहाँ मत पडे रहिए। उन्होंने स्वयं श्रीमुख से अपने ब्रज में अवतार लेने की बात कही थी। अब उन्होंने वहाँ अवतार ले लिया है और वहाँ विहार कर रहे हैं।

इन्द्र ने भी सोचा- वे ही पूर्ण ब्रह्म हैं। मैं तो सांसारिक माया में भूला पड़ा रह गया। मैं ने उनके सामने अपनी पूजा करानी चाही। यह तो ऐसे ही है जैसे मणि के समक्ष दीपक अपना करना चाहता हो, जैसे सूर्य के सामने जुगुनू उजाला करना चाहता हो, जैसे चन्दन के सामने बाँस अपनी सुगन्ध विकीर्ण करना चाहता हो। वे प्रभु एक क्षण में करोडों इन्द्र रच सकते हैं और क्षण भर में ही उनका विनाश भी कर सकते हैं। मैं भी तो उन्हीं का बनाया हुआ सुरपति हूँ। मैं उन्हीं का आश्रय लेना भूल गया था।

सूरदास के आत्म-निवेदन का एक-दो उदाहरण और देखिए-

1.मोहिं प्रभु तुमसों होड परी

ना जानौ करिहौं ब कहा तुम,नगर नवल हरी।

हुतीं जिती जग मैं अधमाई, सो मैं सबै करी।

अधम-समूह उधारन-कारन, तुम जिय जक पकरी।

.....

अपनौ विरद सम्हारहुगे, तौ यामैं सब निबरी।।(84)

हे हरि, हे नवल नागर, अब मेरी और तुम्हारी प्रतिद्वंदिता का प्रश्न उपस्थित हो गया है। इस प्रतियोगिता में तुम क्या कर बैठोगे, हारोगे या जीतोगे, मैं नहीं जानता। संसार में जितनी भी नीचता है, मैं सब कर चुका। और तुमने हठ पकड़ लिया है कि मैं सारे अधमों का उद्धार कर ही दूँगा। हे कमल-नयन, मैं पाप के पहाड की घाटी में छिप गया हूँ, देखूँ, तुम तारने के लिए मुझे कहाँ पाते हो। तुम्हारे लिए यह अत्यन्त गूढ़ और गंभीर घडी आकर उपस्थित हो गई है। साधुओं की सत्संगति का एक आधार था, जिसे मैंने बहुत सोच-विचार कर बडे परिश्रम से प्राप्त किया था, पर इस उपयोगी वस्तु को भी मैं संचित करके नहीं रख सका। और अपनी ही टेक पर अडा रह गया। प्रभु, तुम मेरे उद्धार की बात सोच रहे हो, उसमें तुम्हें अनेक घड़ी और अनेक पहर तक कठिन श्रम करना पड जायेगा। मेहनत करते-

करते तुम्हें पसीना चूने लगेगा, तुम पसीने में लथपथ हो जाओगे और सोचने लगोगे कि मैंने यह टेक व्यर्थ ही क्यों पकड़ी? मैं भला तुम से विनती ही क्या कर सकता हूँ। मेरा तो सारा शरीर ही दोषों से भरा हुआ है। हाँ प्रभु, यदि तुम अपने पतित-पावन विरद को सँभाल लोगे, स्मरण कर लोगे, तो इसमें सब निपटारा हो जाएगा। तुम जीत जाओगे और मैं हार जाऊँगा। पर प्रभु समझ लो, इस हार में भी मेरी ही जीत होगी, मेरा ही लाभ होगा।

2. और न काहुहिँ जन की पीर।

जब-जब दीन दुखी भयौ तब-तब, कृपा करी बलबीर।।

गज बल-हीन बिलोकि दसौ दिसि, तब हरि-सरन पर्यौ।

करुना-सिन्धु, दयाल, दरस, दै सब संताप हर्यौ।।

.....

201

असरन-सरन, 'सूर' जाँचत है, को अब सुरति करावै।।(85)

अपने भक्त पर आई पीड़ा या दुख का जितना अनुभव प्रभु करते हैं, उतना और कोई नहीं करता। जब-जब तुम्हारा भक्त पीडित हुआ है, हे बलदाऊ के भाई कृष्ण, तब-तब तुमने उस पर कृपा की है और उसका दुख हरा है। जब गजराज ग्राह से अथाह जल में लड़ते-लड़ते अशक्त हो गया, तब दसों दिशाओं में सहायता के लिए देखने लगा। अंतत: हे हरि, वह तुम्हारी शरण में आया। हे करुना-सागर, हे कृपालू, तुमने उसे दर्शन दिया और उसका सारा दुख हर लिया। .....हे श्रीपति, तुम युग युग से भक्तों के सुमिरन के वश में हो। भक्तों ने तुम्हारा नाम लिया और तुम उनके कष्ट -निवारण केलिए उपस्थित। वेद तुम्हारे इस निर्मल यश को गाते रहते हैं। तुम उनको शरण देनेवाले हो, जिन्हें कोई शरण नहीं दे पाता। हे प्रभु, अब मैं अंधा सूर तुम से याचना करता हूँ। तुम मेरी सुधि भूल गए हो। अब कौन तुम्हें मेरी याद दिलाए।

सूर ने श्याम के चरणों में आत्म-निवेदन किया है। यों तो उनकी आस्था अन्य लीलावतारों तथा देवों में भी थी, किन्तु आत्म-निवेदन उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति ही किया है। उन्होंने सभी प्रकार के अभिमान त्यागकर (विद्या,जाति आदि) भगवान कृष्ण को अनन्य भाव से भजा है।यही आत्म-निवेदन का शुद्ध स्वरूप है।

'नारायणीयम' में स्वयं भट्टतिरि ने अपने इष्टदेव से आत्म निवेदन किया है।पहले ही सूचित किया है कि वे आर्त भक्त है। स्वयं वे शरणागत होकर ही गुरुवायूर मन्दिर में आये थे। क्योंकि अपने वात

रोग से मुक्ति उन्हें मिलना ही था। आत्म-निवेदन का यह भाव नारायणीयम् के लगभग सभी दशकों में देखने को मिलता है। या तो अपनी ओर से या किसी अन्य की ओर से।दशक तीन के अधिकांश श्लोक ऐसे आत्मनिवेदन को ही सूचित करते हैं। लेकिन दशक के अन्त में हम देखते हैं कि वे आत्म निवेदन का मार्ग छोडकर निश्चय कर लेते हैं कि जब तक भगवान उनका उद्धार नहीं करेंगे तब तक उनकी सन्निधि नहीं छोडेंगे। ऐसे शपथ कर वे अपनी अनन्याश्रयता और आत्म-समर्पण को प्रमाणित भी करते हैं।

नारायणीयम् में भट्टतिरि ने गजेन्द्रमोक्ष में गजेन्द्र का कालियदमन में कालिय नाग और पत्नियों का , विप्रप्त्न्यनुग्रह में विप्र पत्नियों का , रासलीला के प्रसंग में गोपियों का (द.67,श्लोक 6,7), रुक्मिणी स्वयंवर में रुक्मिणी की शरणागति का (73)(द.78,श्लोक-7,8) प्रतिपादन संक्षिप्त रूप में ही सही अत्यन्त हृदयहारी ढ़ंग से किया है।

गजेन्द्रमोक्ष में गजेन्द्र ने जो आत्मनिवेदन किया है, इसका वर्णन भट्टतिरि ने इस प्रकार किया है-

' आर्तिव्यक्तप्राक्तनज्ञानभक्ति:

शुण्डोत्क्षिप्तै: पुंडरीकै: समर्चन्

पूर्वाभ्यस्तं निर्विशेषात्मनिष्ठम्

स्तोत्रश्रेष्ठं सोन्व गादीत् परात्मन'।(86)

हे परमात्मा, जब दुख बढ़ा तब हाथी (गजेन्द्र) में पूर्व जन्म की ज्ञान-भक्ति जाग्रत हो गई। उसने अपनी सूँड से श्वेत कमल पुष्प तोडकर आप की अर्चना की और पूर्व जन्म में अभ्यस्त निर्गुण

ब्रह्म विषयक स्तोत्र-रत्न दुहराया।) हाथी ने अर्चना एवं कीर्तन द्वारा भगवान की सेवा की,जो निर्गुण विषयक था।

'श्रुत्वा स्तोत्रं निर्गुणस्थं समस्तम्

ब्रह्मेशाद्यैनार्हमित्यप्रयाते

सर्वात्मा त्वं भूरिकारुण्यवेगात्

तार्क्ष्यारूढ: प्रेक्षितोभू: पुरस्तात्' ।((87)

(ब्रह्मा,शिव, आदि देवों ने वह निर्गुण विषयक स्तोत्र पूरा सुन लिया। प्रत्येक को मालूम हो गया कि यह उसके प्रति नहीं है। अत : कोई भी हाथी को बचा लेने नहीं गया। अन्त में आप ही ,जो सर्वात्मस्वरूप है, कारुण्यातिशय के आवेग में पडकर गरुड पर चढे, हाथी के सामने प्रत्यक्ष हो गये।)

कालियनाग-पत्नियों ने भी आत्मसमर्पण किया है। इसका वर्णन भट्टतिरि ने यों दी है—

'अयिपुरैवचिराय परिश्रुत-

त्वदनुभावविलीनहृदो हि ता:

मुनिभिरप्यनवाप्यपथै: स्तवै-

र्नुनुवुरीश, भवन्तमयन्त्रितम्'।(88)

(हे ईश, उन नाग पत्नियों ने ऐसे मार्गों की अनर्गल स्तुति से आप का स्तवन किया जिन मार्गों तक बडे बडे ऋषि-मुनि भी पहूँच न पाये थे। बात तो यह थी कि उन का हृदय आप की उस महिमा में

लीन था जिसे वे पहले ही बहुत काल से सुन चुकी थी।) वास्तव में मूलग्रन्थ में उनकी स्तुति बीस श्ळोकों में प्रस्तुत किये है। लेकिन भट्टतिरि ने यहाँ केवल उल्लेख मात्र किया है।

विप्र-पत्नियाँ चिरकाल से कृष्ण में भक्ति रखकर तथा उनके दर्शन में उत्सुक होकर रहती थी। तभी गोपबालकों ने कृष्ण के लिए भोजन माँगा। एकदम घबरा गयीं। इसका वर्णन देखिए-

' गृहीतनाम्नि त्वयि संभ्रमाकुला-

श्चतुर्विधं भोज्यरसं प्रगृह्य ता:

चिरं धृतत्वत्प्रविलोकनाग्रहा:

स्वकैर्निरुद्धा अपि तूर्णमाययु :'।(89)

(बालकों द्वारा आपके नाम के लिये जाने पर (आप के नाम सुनते ही) वे ब्राह्मण-वनितायें, जो चिरकाल से आपके दर्शन का आग्रह मन में धारण किये हुए थी, बडी घबराहट के साथ चारों प्रकार के रस-युक्त भोजन लेकर अपने लोगों द्वारा रोकेजाने पर भी जल्दी आप के पास आईं।)

चेदिराज शिशुपाल से भैया ने अपनी शादी तय कर दी, यह सुनकर रुक्मिणी एक ब्राह्मण के पास श्रीकृष्ण के लिए संदेश भेजती है। उसमें कृष्ण के प्रति उसका आत्मसमर्पण भट्टतिरि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'तव हृतास्मि पुरैव गुणैरहम्

हरति मां किलचेदिनृपोधुना

अयि कृपालय, पालय मामिति

प्रजगदे जगदेकपते तया'।(ना.द.78.7)

'अशरणां यदि मां त्वमुपेक्षसे

सपदिजीवितमेव जहाम्यहम्

इति गिरा सुतनोरतनोत् भृशम्

सुहृदयं हृदयं तव कातरम्'।(90)

(हे विश्व के स्वामी, वह कहती है- "आप के गुणों से मैं पहले हरी हई हूँ। अभी चेदिराजा मुझे दुबारा हर रहा है। हे कृपा निधे, आप मेरी रक्षा करें। अगर आप मुझ-अशरण को छोड देंगे तो मैं तुरंत ही अपना जीवन त्याग दूँगी"। सुन्दरी रुक्मिणी के ऐसे –ऐसे वचन सुनाकर उस मित्र(ब्राह्मण) ने आप के हृदय को अत्यन्त व्याकुल बना दिया।)

सूरदास और भट्टतिरि दोनों ने अपनी अपनी रचना में अपने इष देव के प्रति आत्म समर्पण का भाव प्रकट किया है। सूर जन्मान्ध थे तो भट्टतिरि युवावस्था में

वातरोग से पीडित थे। सूर ने अपने विनय पदों में आत्म समर्पण का भाव प्रकट किया है। वैसे भट्टतिरि ने भी अपने करीब सभी दशकों में यही भाव प्रस्तुत किये है। इष्टदेव के प्रति या तो अपनी और से या अन्य पात्रों की ओर से शरणागत होकर भगवान के चरणों पर आत्म समर्पण करने केलिए ये दोनों तनिक भी हिचकते नहीं।

फ़रक तो इतना ही है कि सूरदास ने अपनी बातें विशद रूप से प्रस्तुत किये हैं। लेकिन भट्टतिरि ने कम शब्दों में इसका प्रतिपादन किया है।

5.2.4.2.प्रेम-भक्ति

सूरदास की प्रेम-भक्ति माधुर्य भाव की भक्ति है और गोपियाँ उसका प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रेम-भक्ति की अविगति सूर ने नवधा भक्ति के द्वारा ही मानी है। सूरसागर में प्रेम-भक्ति संबन्धी अनेक पद देखने को मिलते हैं। प्रेम-भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए वे कहते है-

" प्रेम-भक्ति बिनु मुक्ति न होय नाथ, कृपा कर दीजै सोई।

और सकल हम देख्यौ जोई, तुम्हारी कृपा होइ सो सोइ।।(91)

प्रेम-भक्ति के बिना मुक्ति नहीं मिलती। हे नाथ, हमें वही प्रेम-भक्ति दीजिए। हमने और सभी को देख-परख लिया, किसी के किए कुछ नहीं हो सकता। जो कुछ होता है, सिर्फ तुम्हारी कृपा से होता है। वास्तव में प्रेम की बडी महत्ता है। प्रेम से ही ऐहिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध होते हैं; इस प्रेम का मूल ही प्रेम,प्रेम ही है। प्रेम से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है-

" प्रेम-प्रेम ते होइ प्रेम ते परहि पइये।

प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये।

एकै निश्चय प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।

साँचौ निश्चय प्रेम को जेहिते मिलें गोपाल।(92)

(प्रेम से संसार की स्थिति हैं; क्यों कि सारा संसार प्रेम सूत्र में आबद्ध है। प्रेम पुरुषार्थ है, धर्म साधना का साध्य और साधन दोनों हैं।सच्चे प्रेम का दृढ़ निश्चय ही सरस जीवन-मुक्ति है और प्रेम के एकांतिक दृढ़ निश्चय से ही गोपाल से मिलन संभव है।)

207

सूरदास जी व्रजधाम के वास को ही प्रेम-भक्ति का फल मानते हैं। उसके प्राप्त होने पर भक्त को और कुछ प्राप्य नहीं रहता और न ही उसकी कोई अन्य कामना रहती है। प्रेमी भक्त उस महान वस्तु को प्राप्त करने के पश्चात् और किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता। प्रेम-भक्ति की प्राप्ति से स्वयं सूरदास भी समस्त संसार को कृष्णमय देखने लगे। उनकी गोपियाँ उद्धव से कहती हैं--"हमारे में कोई स्थान अवशिष्ट नहीं है। हमारे ह्दय में नन्द-नन्दन के होते हुए और किसको स्थान मिल सकता है? हमारा हृद य तो कृष्ण के प्रेम से लबालब भरा है।"(93)

कृष्ण प्रेम में तल्लीन गोपियाँ उद्धव से कहती है-"मन दस-बीस तो होते ही नहीं; एक था सो वह श्याम के साथ चला गया। अब ईश की आराधना-योग साधना कैसे की जाय?"(94) प्रेम की अनन्यता सूर की गोपियों में देखी जाती है तभी तो वे उद्धव से कहती हैं-

" ऊधौ मन माने की बात।

दाख छुहारा छाँडि अमृत फल विषकारा विष खात।

.....

सूरदास जाको मन जासो ताको सोई सुहात।।(95)

ऊधौ, प्रेम तो मन के मानने की बात है। मन जिसको मान लें, उसीसे उसका प्रेम। विष-कीट दाख (अंगुर), छुहारा और अमृतफल (अमरूद) को छोडकर विष ही खाता है। उसे अमृत नहीं पसन्द है। कोई चकोर को कितना ही कपूर दे दें, वह कपूर नहीं खाता, उसे छोडकर उसकी तृप्ति अंगारे से ही होती है। भौरा कठोर काठ काटकर अपना घर बना लेता है, पर कोमल कमल कोष को नहीं काट पाता, उसी में रात भर बँधा रह जाता है।

208

पतंगा दीप-शिखा से ही प्रेम करता है, वह उससे लिपट कर जल जाता है। जिसका मन जिससे लग जाता है, वही उसे सुहाता है, अच्छा लगता है।)

नारद जैसे ज्ञानी भक्त भी ब्रज-बालाओं को प्रेमी-भक्तो में शिरोमणि मानने के लिए विवश है, क्यों कि उनका तन, मन, धन सब श्रीकृष्ण को अर्पित था और वे अहर्निश उन्हीं का चिन्तन करती थी। उनका प्रेम किसी आँधी-तूफ़ान में हिमालय के समान अटल खडा रह सकता है। उद्धव के लाख बार समझाने पर भी प्रेममयी गोपियों का मानस स्नेह-रस से पूर्ण लहराता रहा।

प्रेम-भक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन हरि-कृपा और सत्संग ही है। सूर ने स्थान स्थान पर इस बात को दुहराया है। रामावतार की कथा, कालिय-दमन, गोपियों से कृष्ण का प्रेम-प्रदर्शन, रास-लीला, कुब्जा उद्धार, सुदामा का दारिद्र-दमन आदि प्रसंगों में सूर ने हरि-कृपा का वर्णन किया है। सूरदास की प्रेम-भक्ति साधना में अष्टांग योग व्यर्थ है , मन:कामना बाधक है, केवल सत्संगति का विशेष महत्व है। भगवान कपिल वासुदेव द्वारा सूर ने देवहूति को यही उपदेश दिलाया है।

' नारद-भक्ति-सूत्र ' में वर्णित प्रेम-भक्ति के स्वरूप का पूर्ण विवेचन ‘सूरसागर’ में देखने को मिलता है। महर्षि नारद सत्संगति के साथ सदाचार को भी महत्व दिया है। नहुष, इन्द्र, और अहिल्या की कथाओं से सत्संगति से हरि-भक्ति की शिक्षा मिलती है तो राजा अंबरीष की कथा में सदाचार का महत्व दिखाते है। गोपियों के लोक-लाज और कुल-मर्यादा का उल्लंघना तो कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति की स्थापना के लिए है। सूर की गोपियाँ सांसारिकता से बहुत ऊँची उठ चुकी है। वे तो प्रेम-भक्ति की चरम-अवस्था को प्राप्त चुकी है। सूर की प्रेम-भक्ति अपने आप में पूर्ण है। गोपियों का विरह-प्रेम उसी पूर्णावस्था का प्रतीक है। वे उद्धव से कहती हैं:-

209

"ऊधौ विरहौ प्रेम करै।

ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौं, रंग न रसहिं परै।

ज्यौं धर दहै, बीज अंकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै।

ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै।

ज्यौं रन सूर सहै सर सन्मुख, तो रवि रथहुँ अरै।

सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि क्यौं दु:ख-सुखनि डरै।।(96)

(हे उद्धव,विरह भी प्रेम को पुष्ट करता है। जैसे बिना पुट दिए हर्रा या फिटकिरी जैसे किसी कसैले पदार्थ के घोल में बिना डुबोए हुए, कपड़ा पक्का रंग नहीं पकडता, रंग चटकीला नहीं होता; जैसे जली धरती पर गिरे बीज के जमे अंकुर में सैकडों बीज आ फलते हैं; जैसे आवाँ की आग में मिट्टी का कच्चा घड़ा पहले अपना तन तपाता है, तब उसमें अमृत जल भरा जाता है; जैसे योद्धा पहले लडाई के मैदान में छाती पर शर-प्रहार सहता है, तब वह सूर्य-मंडल को वेधकर स्वर्ग जाता है; उसी प्रकार गोपाल के प्रेम-पथ पर चलकर दुख-सुख से क्यों डरा जाय।)

सूर की प्रेम- भक्ति साधन नहीं, साध्य है; जिसकी प्राप्ति के पश्चात कुछ प्राप्य ही नहीं रह जाता। उन्होंने भक्ति की महिमा का बखान गोपियों के मुख से कराया है और वैसे भक्ति का स्वत: पूर्ण रूप प्रतिष्ठित किया है। भक्ति के लिए किसी फल की आवश्यकता नहीं, उनकी लीला सुनने- सुनाने से प्रेम-भक्ति की प्राप्ति होती है।

"जो यह लीला सुनै सुनावै, सूर सो प्रेम-भक्ति को पावै।"(97)

यही कारण है कि सूरदास हर स्थिति में भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति की इच्छा करते हैं ।

निष्काम एवं चिरन्तन भक्ति के रूप में तथा माधुर्य भाव के रूप में 'नारायणीयम' में प्रेम भक्ति को दर्शाया है। पहले के जैसे (निष्काम एवं चिरन्तन) भक्तों के रूप में भट्टतिरि ने प्रचेतसों और वृत्रासुर (चित्रकेतु) को प्रस्तुत किया है। प्रचेतसों ने अनेक वर्ष तक तप किया। भगवान की सेवा मात्र से उन्हें अत्यन्त आनन्द मिले थे।

"स्तवं जपन्तस्तममी जलान्तरे

भवन्तमासेविषतायुतं समा:

भवत्सुखास्वादरसादमीष्वियान्

बभूव कालो ध्रुववन्न शीघ्रता।(98)

शिव भगवान से सुनाये गये 'रुद्रगीत' नामक स्तोत्र को जपते हुए प्रचेतसों ने जल के अन्तर दस हज़ार वर्ष आप की सेवा की। आप के इस सेवा के आनन्द के रस के कारण उनके इतने वर्ष बीते। ध्रुव की तरह फल सिद्धि में शीघ्रता नहीं हुई। भगवान की सेवा उन्हें अत्यन्त आनन्द देती थी। इस आनन्द का, जितना संभव था, उतना आस्वादन करने

की इच्छा से वे निकट-फल-सिद्धि नहीं चाहते थे। भक्त भगवान की सेवा में भी वैसे सुख का अनुभव करते हैं जैसे साक्षात्कारों में ।

वृत्रासुर पूर्व जन्म में चित्रकेतु नामक राजा थे। भगवद् भक्ति में तल्लीन चित्रकेतु फिर विद्याधरों के राजा बने। एक बार शिव की हँसी उडाने के कारण पार्वती ने उन्हें असुर बनने का शाप दिया। लेकिन उसे कोई घबराहट नहीं हुई। वृत्रासुर बनने पर भी उन्होंने भक्ति को नहीं छोडा। इन्द्र

से लडाई करते समय बीच में इन्द्र को आध्यात्म तत्वों का उपदेश कर अपने शत्रु का भ्रम भी दूर किया तथा अन्त में वीर मृत्यू वरण कर वैकुण्ठ पद प्राप्त किया।

"निस्संभ्रमस्त्वयमयाचित शापमोक्षो

वृत्रासुरत्वमुपगम्य सुरेन्द्रयोधी

भक्त्यात्मतत्वकथनै: समरे विचित्रम

शत्रोरपि भ्रममपास्य गत: पदं ते"। (99)

प्रेम भक्ति माधुर्य भाव में वृन्दवन की गोपिकाओं में ही दिखाई पडती है। गोपिकाओं के कृष्ण प्रेम का चित्रण भट्टतिरि ने दशक 59 के वेणुगान से लेकर किया है। विरह, मिलन, मानसिक अनुभूति, नाच ,गान, सामिप्य, सारूप्य जैसे विविध दशाओं से ही गोपी प्रेम गुज़रते हैं। अन्त में दशक 84 के समन्तपञ्चक यात्रा प्रसंग में इसकी परिसमाप्ति होती है। वहाँ श्रीकृष्ण, कुरु-पांडव आदि सभी परिवार समेत ग्रहण स्नान के लिए आये थे। वहाँ कृष्ण और गोपिकाओं का पुन:समागम होता है। उस समय तक गोपिकाएँ कृष्ण विरह में अत्यधिक दुबली-पतली बन गयी थी। एकांत में कृष्ण गोपियों से विशेषकर राधा से मिले और उन्हें पूर्ववत् आनन्द (वृन्दावन में जो आनन्द मिले,वही) प्राप्त हुए। विरह-पीडा ने उनके मन को निर्मल बना दिया था। तभी तो कृष्ण ने उन्हें तत्वों का उपदेश दे दिया। इसके बाद गोपिकाएँ कृष्ण प्रेम के चरम सीमा में आकर एकाकार हो गयी। 'वयं कृष्ण:' का भाव उनमें अंकुरित हुई।

"सपदि च भवदीक्षणोत्सवेन

प्रमुषितमानहृदां नितंबिनीनां

अतिरसपरिमुक्तकञ्चुलीके

परिचयहृद्यतरे कुचे न्यलैषी:।

रिपुजनकलहै: पुन: पुनर्म्मे

समुपगतैरियती विलंबनाभूत्

इतिकृतपरिरंभणे त्वयि द्रा-

गतिविवशा खलु राधिका निलिल्ये।

अपगतविरहव्यथास्तदा ता

रहसि विधाय ददाथ तत्वबोधम्

परमसुखचिदात्मकोऽ हमात्मे-

त्युदयतु व: स्फुटमेव चेतसीति।

सुखरसपरिमिश्रितो वियोग:

किमपि पुराभवदुद्धवोपदेशै:

समभवतमुत परं तु तासां

परमसुखैक्यमयी भवद्विचिन्ता”।(100)

अन्त में दशक 100 में भट्टतिरि ने गोपिकाओं के सायूज्य भाव का भी वर्णन किया है। उन्होंने भगवान के जिस मोहक रूप का दर्शन पाया है, साथ गोपियों को भी देखा है।

अग्रे पश्यामि तोजो निबिडतरकलायावलीलोभनीयम्

पीयूषाप्लावितोऽ हं तदनु तदुदरे दिव्यकैशोरवेषं

तारुण्यारंभरम्यं परमसुखरसास्वादरोमांजितांगै-

रावीतं नारदाद्यैर्व्विलसदुपनिषत्सुन्दरी मण्डलैश्च।(101)

मैं अपने सामने अत्यन्त निबिड कलाय-कुसुम-समूहों के समान सुन्दर तेज देखता हूँ। इस तेज दर्शन से मैं अमृतरस में डूब चुका हूँ। फिर उस तेज के मध्य में एक दिव्य बालक का रूप देखता हूँ जो यौवन के आरंभ होने से मनोहर है। उसके चारों ओर परमानन्द-रस के आस्वादन से रोमाञ्चित अंगोंवाले नारदादि मुनिगण तथा उपनिषद्-रूपिणी सुन्दर युवतियों के समूह घेरे हुए खडे हैं। (यहाँ उपनिषद् का अर्थ एक तो उपनिषदों की अधिष्ठात्री देवियाँ है और दूसरा सामने बैठी हुई युवतियाँ है। याने गोपाल कृष्ण (बालक रूपी) गोप-युवतियों से घिरे हुए मिलता है। इनके अलावा नारदादि मुनिगण भी है।)

प्रेम भक्ति के महत्व के बारे में सूरसागर और नारायणीयम में विशद वर्णन हुआ है। सूर और भट्टतिरि दोनों ने अथाह रूप से प्रेम भक्ति का प्रतिपादन किया है। नारद भक्ति सूत्र में वर्णित प्रेम भक्ति के स्वरूप तथा लक्षण का पूर्ण विवेचन सूर और भट्टतिरि ने अपनी अपनी रचना में प्रस्तुत की है।

दोनों ने भक्ति की दो अवस्थाओं- प्रेमावस्था और भावावस्था- का अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है। प्रेमावस्था में दोनों ने जो माधुर्य भाव को अपनाया है, ये दोनों अपनी अपनी शैली में महत्वपूर्ण है। गोपिकाओं के कृष्ण-प्रेम को दोनों ने विविध स्थानों में उसके उदात्त भाव में

प्रकट किया है। वेणुगान हो या चीर हरण, रासलीला हो या विरह, प्रेम के अनुपम,असीम तथा अत्युच्च कोटि को दोनों ने दर्शाया है। प्रेम की मूर्धन्य स्थिति में अपने कुल-मर्यादा, शान-मान आदि को छोडकर कृष्ण –प्राप्ति के लिए दौड- आनेवाली गोपिकाओं का अतीव हृदयहारी चित्रण सूर और भट्टतिरि दोनों ने किया है।

प्रेम भक्ति के भावावस्था के उदाहरण स्वरूप प्रह्लाद, अक्रूर जैसे भक्तों की कथा को प्रस्तुत किये हैं। उनके जैसे भक्तों में अनन्य एवं निष्काम भक्ति ही दिखाई पडते हैं। भगवान उनकी रक्षा हमेशा करते हैं। इन बातों का भी प्रतिपादन सूरसागर और नारायणीयम में हुआ है।

सूरदास प्रेम भक्ति के माधुर्य भाव को अधिक महत्व दिया है। प्रेमावस्था के महत्व के बारे में बताते हुए सूरदास गोपिकाओं का कृष्ण प्रेम सूरसागर के माध्यम से प्रकट किया है। प्रेम के संयोगावस्था से बढकर विरहावस्था पर उन्होंने अधिक बल दिया है। सूर के पक्ष में विरह ही प्रेम को पवित्र बना देता है। विरहिणी गोपिकाओं के मन में

श्रीकृष्ण को छोडकर और कोई चिन्ता नहीं । सोते- जागते, खाते-पीते, और काम करते समय उनके मन में श्रीकृष्ण ही विराजते हैं। ये गोपिकाएँ जो कुछ भी करते हैं सब "कृष्णार्पणम्" के रूप में ही करती हैं। इस प्रकार तन-मन से कृष्ण प्रेम में मग्न सूर की गोपिकाएँ अन्त में कृष्ण में ही एकाकार हो जाती हैं। उनका विरह प्रेम अग्नि जैसे उनके मन को शुद्ध एवं पवित्र कर देता है। स्वयं सूरदास भी अपने को गोपी ही मानते हैं। उनका कहना है कि प्रेम से परमार्थ प्राप्त होता है, भगवान प्राप्त होता है।

नारायणीयम में भट्टतिरि ने प्रेम के दो अवस्थाओं को स्वीकार किया है। प्रेमावस्था में माधुर्य प्रेम के महत्व को गोपिका प्रेम के

माध्यम से दर्शाते हुए भट्टतिरि ने अन्त में गोपिकाओं के कृष्ण सारूप्य का भी मोहक वर्णन किया है। लेकिन उन्होंने प्रेम के विरहावस्था का वर्णन भ्रमर गीत के माध्यम से नहीं किया है। प्रेम के भावावस्था का प्रतिपदन करते हुए भट्टतिरि ने प्रह्लाद, प्रचेतसों, अक्रूर आदि के अनन्य प्रेम भाव को सूचित किया है। इन भक्तों का जीवन सिर्फ भक्ति के लिए ही है। इन्हें भक्ति ही साध्य है, भक्ति ही साधन है।

निष्कर्ष :

जो प्रेम व्यक्ति, समाज आदि के प्रति है, वह भौतिक प्रेम है। लेकिन वह प्रेम जब ईश्वरोन्मुख हो जाता है तो भक्ति का रूप धारण कर लेता है। शांडिल्य, नारद, जीव गोस्वामी, गीताकार, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदि ने प्रेम भक्ति की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। इन्हीं के अनुसार प्रेम भक्ति, ईश्वर की ओर निर्बाध गति से होने वाला मन का प्रवाह है। वह निष्काम भाव से अपने को उस नारायण के चरणों पर समर्पण करना है। भगवद् प्रेम रूपी सुधासागर में डूबने से मानव अमर बन जाता है। भक्ति की अनेक कोटियाँ हैं। इन में सर्वोच्च स्थान प्रेम भक्ति का है। भक्ति की विशेषता के बारे में नारद भक्ति सूत्र तथा श्रीमद् भगवत् गीता में बताते हैं कि प्रेम भक्ति का स्वभाव पूर्ण त्याग है। अनन्य भक्ति से भगवान को देखने ,उनके तत्व को जानने से ही भगवान प्राप्त हो जाता है। नारदादि आचार्यों ने भक्ति के लक्षण के बारे में बताते हुए कहा है- अथाह भक्ति के साथ करनेवाले भगवद् पूजा ही भक्ति है। भगवद् महिमा को प्रकीर्तित कथाओं में अनुराग उत्पन्न होना ही भक्ति है। निर्बाध रूप से आत्मानन्द में रमना तथा सारे कर्मों को भगवद् समर्पण करना और भगवद् विस्मृति में असहनीय पीडा होना आदि भक्ति का लक्षण है। नारद इसके लिए व्रज की गोपियों का उदाहरण देते हैं। प्रेम भक्ति को प्राप्त भक्त का लक्षण भी इसमें दिया गया है भक्ति के फल या प्रयोजन

के बारे में भक्ति के आचार्यों ने यों कहा है - प्रेम भक्त भगवद् साक्षात्कार कर सकता है। वह चौबीस प्रकार की शक्तियों से स्वतंत्रता का आनन्द अनुभव कर सकता है। भगवद् भक्त पवमान प्रभु का आश्रय पाकर पवित्र हो जाता है। वह राग-द्वेष आदि भावों से मुक्त होकर विश्व बन्धुता के बन्धन में अपने को समेट कर लेता है। ऐसे भक्त के लिए प्रभु या भगवान करतलामलक जैसा बन जाता है। भक्ति से शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनासक्त होकर सर्वं ईश्वरमयं का अनुभव प्राप्त करता है।

सूरसागर और नारायणीयम में प्रेम भक्ति के सभी तत्वों का अनुसरण हुआ है। सूर और भट्टतिरि ने अपनी अपनी रचना के लिए 'श्रीमद् भागवत्' को ही आधार बनाया है। दोनों ने भक्ति को ही प्रमुखता दी है। भागवत में जहाँ जहाँ भक्ति पोषक घटनाएँ हैं, उसे अपनी रचना में प्रस्तुत करके भक्ति को बढ़ाने का प्रयास दोनों ने किया है। साथ ही जहाँ 'भक्ति' नहीं है, उसे छोडा भी है। दोनों ने भागवत के प्रमुख भक्तों- प्रह्लाद, अंबरीष, गजेन्द्र (इन्द्रद्युम्न) अजामिल जैसे- की कथा का वर्णन करते हुए अपनी भक्ति की पुष्टि की है।

प्रेम भक्ति के दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य और आत्मसमर्पण आदि मुख्य भावों का वर्णन करके दोनों ने भगवद् प्रेम की महिमा का उल्लेख किया है। और साथ ही यह साबित करने की कोशिश भी की है कि भगवद् प्रेम या प्रेम भक्ति ही हर मानव का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है। दोनों ने भक्ति मार्ग का अवलंबन करके उस परम प्रेम का साक्षात्कार भी किया है।

सूरदास जन्म से अनासक्त थे। जन्मान्ध होने के कारण लौकिक जीवन के प्रति उनका कोई आस्था नहीं था। इसलिए उन्होंने जीवन भर अपने इष्ट देव के भजन-कीर्तन में व्यतीत किया। इसका प्रमाण है

उनका 'सूरसगर'। भट्टतिरि जन्म से अनासक्त नहीं थे। जब से वे वातरोग से पीडित थे तब से ही उनमें अन्तर्लीन भक्ति का बहिर्गमन हुआ। और वे भगवान गुरुवायूरप्पन के भजन- कीर्तन में तल्लीन रहे। सूरदास का सूरसागर भागवत् के आधार पर लिखा हुआ बृहत ग्रन्थ है। लेकिन नारायणीयम भागवत के आधार पर लिखा हुआ है तो भी बृहत नहीं। भट्टतिरि ने भागवत् रूपी बृहत ग्रन्थ का सार ही नारायणीयम में उँडेला है।

संदर्भ ग्रन्थ सूचि

1.रामचन्द्र शुक्ल-सूरदास, पृ.137-138(वाराणसी-1961)

2.रवीन्द्रनाथ टैगोर-साधना, पृ.106(लंदन,1917)

3.रामचन्द्र शुक्ल-सूरदास,पृ31

4.शांडिल्य-भक्तिसूत्र-अध्याय-1,भाग-1-2

5.नारद भक्तिसूत्र-अ.1.भा.1 -2,3,4,5,6

6.श्रीमद् भागवत-1.2.6

7.जीव गोस्वामी-भक्तिरसामृतसिन्धु-पूर्वभाग-चतुर्थ लहरी।

8&9. श्रीरामकृष्ण परमहंस-श्रीरामकृष्ण वचनामृत-पु.1 -पृ.32,33,60,173,174,

10.नारद भक्तिसूत्र-अध्याय-1,भाग-2-7

11.श्रीमद् भागवत-11/14/20-21

12.श्रीमद् भगवत गीता-11/53-54

13.नारद भक्तिसूत्र-अध्याय-5,भाग-1 सूत्र.51.

14.नारद भक्ति सूत्र-अध्याय-7,भाग-1,सूत्र-67.

15.ना.भ,सू-अ.7,भा-1,सू-68

16.ना.भ.सू-अ.7,भा.2,सू-70

17.नारद भक्ति सूत्र-अध्याय-7,भाग-2,सूत्र-71.

18.ना.भ.सू-अ.7,भा.2.सू.72,73.

19.श्रीमद् भगवत् गीता-6-30.

20.श्रीरामकृष्ण परमहंस-श्रीरामकृष्ण वचनामृत-पुस्तक-2.पृ.525-526.

21.ना.भ.सू-सू.80.

22.ना.भ.सू-सू-81.

23.नागरी प्रचारिणी सभा-सूरसागर,2635.

24.ना.प्र.स.-सूरसागर-2636.

25.ना.प्र.स.-सूरसागर-4713.

26.मेलपत्तूर भट्टतिरि- नारायणीयम्-दशक-47/6.

27.नागरी प्रचारिणी सभा-सूरसागर-पद-128.

28.सं.डॉ.किशोरी लाल गुप्त-संपूर्ण सूरसागर-पद.414/616

29.वही-पद.203/421

30. वही-पद.743/1176

31.वही.-पद.744/1177

32.मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरि-नारायणीयम्-दशक.17.श्लोक.6

33.वही- द.17.7.

34.वही- द.17.8.

35. वही-द.24.4

36.वही- द.24.5.

37.नारायणीयम् -द.24.7.

38.वही-द.25.9.

39. वही-द.33.2.

40.डॉ.के भास्करन नायर-हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य-पृ137.

41.सूरसागर-ना.प्र.स.पद.सं.1066.

42.वही-पद.1068.

43.वही-पद.1103 से 1109 तक

44.सं. डॉ.किशोरी लाल गुप्त- संपूर्ण सूरसागर-पद 2870/4863.

45.नारायणीयम्-दशक-58.श्लोक.3 से 6 तक

46. वही-दशक.70.10.

47. वही-दशक.75.3

48.वही-दशक.76.11.

49.वही-दशक.87.2.

50. वही-दशक.87.9

51.वही-दशक.87.10

52.वही-दशक.88.4.

53.वही-दशक.88.9.

54.आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी-सूर साहित्य।

55.ना.प्र.स.सूरसागर-पद.709

56.सं.सूरसागर- पद.332/716

57.सूरसागर-ना.प्र.स. पद-3590-98

58. वही-पद-3793

59.नारायणीयम-दशक-39.श्लोक.9,10.

60. वही-दशक.41.5

61.वही-दशक.42.9.

62.वही-दशक.45.1-8.

63.वही-दशक.52.5

64.संपूर्ण सूरसागर पद.1004/2072

65.वही-पद.837/1410

66.वही -पद.921/1702.

67.सं.सू.सा. पद.964/1772.

68.सं.सू.सा-भ्रमर गीत प्रसंग।

69.सं.सू.सा. उद्धव संवाद-श्रीकृष्ण।

70.नारायणीयम्-दशक.59.1.

222

71.वही-दशक.59.2.

72.वही-दशक.59.3.

73.नारायणीयम-दशक.59.6

74. वही-दशक.60.1-8

75.वही-दशक.65.5

76.वही-दशक.65.7

77.वही-दशक. 67.5.

78.वही-दशक. 69.11.

79.वही-दशक.76.4.

80.वही-दशक. 76.5.

81.ना.दशक. 76.6.

82.वही-दशक. 70.5.

83.संपूर्ण सूरसागर-पद.784

84.वही.पद.110.

85.वही-पद.14.

86.नारायणीयम-दशक.26.7.

87.वही-दशक.26.8.

88.वही-दशक.56.4.

223

89.वही-दशक.61.6.

90.वही-दशक. 78.8.

91.सूरसागर-ना.प्र.स.4919

92.सूरसागर-वेंकिटेश प्रेस.पद.565.

93.सू.सा-ना.प्र.स.पद.4350

94.वही-पद. 4344

95.वही-पद. 4639.

96.सू.सा-ना.प्र.स.पद.4604

97.वही-पद. 4931.

98.नारायणीयम-दशक.19.4.

99.वही-दशक.23.10.

100.वही-दशक. 84.5-8.

101.नारायणीयम्-दशक.100.श्लोक.1

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में "सूरसागर और नारयणीयम् में प्रेम भक्ति :एक तुलनात्मक अध्ययन" नामक विषय पर जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उसके आधार पर उपसंहार के रूप में निम्न लिखित निष्कर्ष पर पहूँच सकते हैं।

परमानन्द स्वरूप ईश्वर के प्रति उत्पन्न निष्काम, अकैतव प्रेम ही भक्ति है। नारद, शांडिल्य, भागवतकार आदि भक्ति के आचार्यों ने यही कहा है। वेदों ,

उपनिषदों और पुराणों के अनुसार भक्ति, परम प्रेम स्वरूप भगवान के प्रति किसी के मन में उत्पन्न अथाह, अनन्य और निष्काम प्रेम ही है। अटल विश्वास, प्रेम, सेवा, माहात्म्य ज्ञान, सातत्य या नैरंतर्य, अनन्यता, प्रपत्ति, शरणागति और आत्म समर्पण तथा निष्काम भावना भक्ति को बढ़ानेवाले तत्व है। भक्ति का क्षेत्र व्यापक है, तो भी ईश्वर भक्ति के क्षेत्र में भगवद्गीता ज्ञान और कर्म को ही प्रमुखता दी है। परंतु देवी भागवत में ज्ञान, कर्म और भक्ति को अलग कर दिया है और भक्ति को अधिक महत्व भी दिया है। श्रीमद् भागवत के अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति का आपसी संबन्ध है, एक दूसरे का पूरक है।

आलंबन, गुण, साधन, स्तर, भक्त, रस या भाव, जीव भेद, निम्बार्क मत, स्थान, न्याय आदि के आधार पर भक्ति के विभिन्न प्रकार होते हैं– जैसे निर्गुण-सगुण; तामसी-राजसी-सात्विक; वैधी-रागानुगा; अपरा-परा; आर्त-अर्थार्थी-जिज्ञासु आदि आदि....। वैसे भक्ति के प्रकारों में नवधा भक्ति ही प्रमुख है। ये हैं - श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन। नवधा भक्ति के द्वारा ही भक्त प्रेम भक्ति तक पहूँचता है। भक्ति के साधन के रूप में हम संस्कार, स्वाध्याय, सत्संग, सदाचार,

सद्गुरु कृपा आदि को मानते हैं। इन्हीं साधनों के माध्यम से भक्त भगवद् कृपा प्राप्त कर सकता है तथा प्रेम भक्ति में तल्लीन हो जाता है। भक्ति का फल आत्यंत रूप से भक्ति ही है। तो भी आचार्यों ने निर्भयता, पवित्रता, विश्वबन्धुता, संतोष एवं समरसता, आनन्दमयता आदि को भक्ति के फल के रूप में माने हैं। आचार्यों ने भक्ति के अधिकारी के बारे में भी कहा है। नारद आदि के अनुसार दु:संग, माया, ममता, लोकबन्धन, योगक्षेम, चिन्ता, कर्माकर्मफल, द्वन्द्व, वेद मोह आदि को तजनेवाले भक्ति का अधिकारी है। भक्ति के आगे जाति-धर्म, नर-नारी, पंडित-पामर, ऊँच-नीच जैसे कोई भी भेद-भाव नहीं। केवल हरि भक्ति की ही आवश्यकता है।

भक्ति का उद्भव वेद काल से ही हुआ है। ऋग्वेद आदि वेदों में भक्ति के महत्व, उत्तम भक्त, ईश्वर आदि के बारे में बताया गया है। उपनिषदों में भी भगवद् भक्ति तथा उपासना के बारे में चर्चा हुई है। भक्ति का प्रथम उत्थान वैदिक युग में ही हुआ, ऐसा मानना उचित होगा। लेकिन ब्राह्मण काल के याज्ञिक अनुष्ठानों में वह क्षीण हुई। फिर द्वितीय उत्थान श्रीमद् भागवत,भगवत् गीता आदि पुराणों में हम देख सकते हैं। भक्ति का तृतीय उत्थान जैन-बौद्धादि धर्मों की अहिंसा,परोपकार,करुणा, शील, आदि लोक-मंगलकारी भावनाओं के रूप में हुआ। चतुर्थ उत्थान गुप्त साम्राज्य के साथ हुआ। भागवत् धर्म के महत्व का उद्घोषण उस समय हुआ है। भक्ति रस से समृद्ध 108 पाँचरात्र संहिताओं का निर्माण इसी समय हुआ। इसके बाद रामानुज,मध्व,निम्बार्क,चैतन्य,वल्लभ,जैसे आचार्यों- जिनपर श्रीमद् भागवत का

खूब प्रभाव पडा है- के साथ भक्ति का पंचम उत्थान हुआ। चतुर्थ उत्थान निवृत्ति परक था तो पंचम उत्थान प्रवृत्ति परक था।

उत्तर भारत के(हिन्दी के) पूर्वमध्य काल भक्ति काल नाम से ही जाने जाते हैं। तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक वातावरण भक्ति के विकास

केलिए अनुकूल बना। इस काल में ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी जैसी निर्गुण भक्ति धाराएँ तथा राम भक्ति,कृष्ण भक्ति जैसी सगुण भक्ति धाराएँ प्रवाहित हुई। निर्गुण के ज्ञानाश्रयी (संत परंपरा) शाखा में कबीर जैसे भक्त एवं संतों ने अपनी ज्ञान रूपी भक्ति का प्रचार किया तो प्रेमाश्रयी शाखा (सूफ़ी) के मलिक मुहम्मद जायसी जैसे भक्त कवि भक्ति में प्रेम के महत्व का प्रतिपादन किया। इन दोनों शाखा के भक्त कवियों ने गुरु , ईश्वर, सत्कर्म ,सदाचार,साधना आदि के महत्व के बारे में खूब कहा है। वैसे सगुण के राम भक्त कवियों में तुलसीदास जैसे भक्त राम कथा के माध्यम से भक्ति का ही नहीं वरन् सामाजिक तथा राजनैतिक समन्वय के महत्व का भी वर्णन किया है। तुलसीदास अपना संपूर्ण जीवन इष्टदेव राम के चरित गान करते ही व्यतीत किया। कृष्ण भक्ति शाखा का क्षेत्र अन्य भक्ति शाखा से बढ़कर कुछ विशाल एवं व्यापक है। इसमें चैतन्य संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय, वल्लभ संप्रदाय जैसे संप्रदाय बद्ध कवियों का आविर्भाव हुआ। इन में वल्लभ संप्रदाय तथा उनके अष्टछाप अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिये हैं। स्वामी वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्य थे अष्टछाप के भक्त कवि।वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय भक्ति संप्रदाय का इन्होंने पल्लवन किया है। कुंभन दास, परमानन्द दास, सूरदास, कृष्णदास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुरभुजदास-ये हैं अष्टछाप। इन संप्रदाय बद्ध कवियों के अलावा मीराबाई, रसखान, नरोत्तमदास जैसे संप्रदाय निरपेक्ष कृष्ण भक्त कवियों ने भी अपने साहित्य साधना के माध्यम से कृष्ण भक्ति की पुष्टि की है।

दक्षिण भारत में भक्ति का उदय ईसा की छठी शती से हुई है।भागवत् माहात्म्य के अनुसार द्रविड देश में ही भक्ति की उत्पत्ति हुई है। शैव-वैष्णव संप्रदायों के माध्यम से यहाँ भक्ति धारा अधिकाधिक संपुष्ट हुई।

तमिल देश में भक्ति को सर्व जन सुलभ बनाने का श्रेय नायनमारों (शैव भक्त) और आलवारों (वैष्णव भक्त) को है। अप्पय, तिरुज्ञान संबन्धर, माणिक्य वाचकर,कारैक्कल अम्मैयार आदि तिरसठ शैव भक्त नायनमार थे। वैसे पोयगै आलवार, भूतत्तालवार, नम्मालवार, आंडाल आदि बारह वैष्णव भक्त आलवार भी थे। शैव भक्ति साहित्य “पन्निरु तिरुमुरै” नाम से जाने

जाते है तथा वैष्णव भक्तों का साहित्य "नालायिरम दिव्य प्रबन्धम्" के नाम से प्रसिद्ध है। तमिल देश के शैव-वैष्णव भक्तों ने मानव- मानव के बीच रहनेवाले ऊँच-नीच का भेद-भाव, जाति भेद आदि को मिटा देने का परिश्रम भी किया है। कर्नाटक में बसवेश्वर युग में (बारहवीं शती) भक्ति का आविर्भाव हुआ। इस समय शैव या लिंगायत संप्रदाय का प्रचार था। फिर तेरहवीं शती में रामानुजाचार्य द्वारा वैष्णव संप्रदाय (श्री संप्रदाय के नाम से) स्थापित हुआ। मध्वाचार्य के द्वैतमत, विष्णु के अवतारवाद आदि इस समय की भक्ति की विशेषताएँ हैं। कर्नाटक के वैष्णव भक्त "हरिदास" के नाम से जाने जाते हैं। इन वैष्णव भक्त कवियों में पुरन्दर दास की ख्याति सबसे बढ़कर है। ये कवि, भक्त, संत तथा संगीतज्ञ थे। हरिदासी भक्त कवियों ने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति,प्रेम,लोक-व्यवहार आदि का प्रचार-प्रसार करके लोक-कल्याण की भावना को बढ़ावा दिया।

तेलुगु साहित्य में श्रीनाथ युग के साथ भक्ति का प्रचार होने लगा। तेलुगु भक्त कवियों में 'वेमन्नयोगी' विशेष उल्लेखनीय है। इनके अलावा श्रीनाथ (शैव भक्त),बंमेर पोत्तन्न आदि भी तेलुगु के भक्त एवं कवियों में प्रमुख है। महाराष्ट्र के भक्ति साहित्य में प्रथम स्थान प्राप्त संत है श्री रामानन्द। लेकिन वे केवल उस देश के ही नहीं बल्कि संपूर्ण भारत के भक्त एवं संत कवि बने रहे। मराठी भक्ति साहित्य को संपन्न बनाने में नाथ संप्रदायी कवियों का योगदान महत्वपूर्ण है। इन में प्रमुख है, श्री गोरखनाथ। ये

शैव भक्त थे। वैष्णव भक्तों में ज्ञानदेव, नामदेव, तुक्काराम आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

केरल में भक्ति के दो प्रवाह हुए हैं। एक तो ईसा के सातवीं से नवीं शती तक के काल में और दूसरा पन्द्रह से सत्रहवीं शती तक के काल में। केरल में भी शैव-वैष्णव संप्रदाय का प्रचार-प्रसार था। प्रथम चरण में भक्ति का प्रचलन सर्पगीत जैसे लोक-गीतों के माध्यम से हुआ है। केरल के भक्ति साहित्य में संस्कृत और मलयालम दोनों भाषाओं का खूब प्रचार था। चीरामन, निरणम कवि, तुञ्चत्तु रामानुजन एषुत्तच्छन, विल्वमंगलम स्वामियार, कुरूरम्मा, पून्तानम नंपूतिरि, कुंचन नंपियार, रामपुरत्तु वारियर आदि ने मलयालम साहित्य में अपनी भक्ति संबन्धी रचनाएँ की हैं तो जगत् गुरु आदि शंकराचार्य और मेलपुत्तूर नारायण भट्टतिरि ने संस्कृत में ही रचनाएँ की हैं। केरल की भक्ति परक रचनाओं में शैव-वैष्णव-शक्ति स्वरूप भक्ति का सामंजस्य देखने को मिलता है। केरल के भक्त कवियों ने यहाँ के सामाजिक,धार्मिक और जातीय क्षेत्रों में समन्वय भाव फैला दिया।

कृष्ण भक्त कवि सूरदास के जीवन संबन्धी जो प्रामाणिकता वल्लभ संप्रदाय संबन्धी वाङमय ने प्रस्तुत की है, वही अधिक माननीय है। क्यों कि सूरदास स्वामी वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी के अनुयायी भक्त थे। उन्हीं से उपलब्ध सामग्री के अनुसार सूर का जन्म दिल्ली के पास 'सीही' नामक गाँव में एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में वि.सं. 1535 के वैशाख शुक्ला पंचमी को हुआ है। सूरदास अन्धे थे, यह तो सर्वमान्य है। लेकिन जन्मान्ध थे या बाद में किसी कारणवश अन्धे हो गये थे, इस में विवाद आज भी चलते हैं। सूरदास भगवत् कृपा से अन्तर्दृष्टि संपन्न महान थे। सूरदास का बचपन उपेक्षा एवं अपमान में बीता था। शायद इसी कारण वश वे बचपन में ही विरक्त होकर घर-परिवार सब छोडकर चले गये।

अठारह वर्ष के उम्र में उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और वे सीही छोडकर चले और अनेक जगहों में घूम-फिरकर 'रेणुका तीर्थ' में पहूँचे। वहाँ 'गऊघाट' में रहने लगे। वहीं से उनकी भेंट पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य से हुई। यह उनके जीवन का एक महान मोड था। वल्लभाचार्य से उन्होंने पुष्टिमार्ग में दीक्षा ली। उनसे सूर ने श्रीकृष्ण लीला का मर्म समझ पाये। वल्लभाचार्य जी के साथ पहले व्रज और फिर गोवर्धन चले गये। गोवर्धन में वे स्थायी रूप से वास करने लगे। वल्लभाचार्य से भागवत के सूक्ष्म तत्वों को समझकर उन्होंने अपने इष्टदेव की लीला का गायन किया। श्री वल्लभाचार्य के तिरोधान के बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने एक कीर्तन-मंडली का गठन किया था, जिसमें आठ साहित्य-संगीत निष्णात भक्त थे। वे 'अष्टछाप' कहलाये। अष्टछाप मंडली के मुख्य थे सूरदास। उनके नेतृत्व में उपासना,भक्ति,सेवा,साहित्य,संगीत आदि क्षेत्रों में अष्टछाप महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। सूर के मन में श्रीकृष्ण के अलावा और किसी को स्थान नहीं था।

"सूरसागर,सूरसारावली और साहित्य लहरी" सूर की रचनाएँ हैं। इन में सबसे प्रमुख है- 'सूरसागर'। यह सूरदास की प्रामाणिक रचना है। 'श्रीमद् भागवत' के जैसे सूरसागर की कथावस्तु भी द्वादश स्कन्धों में विभाजित किया है। सूरसागर की कथावस्तु में श्रीमद् भागवत् पुराण के अलावा महाभारत, हरिवंश पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, पद्मपुराण, जयदेव के गीत-गोविन्द आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'सूरसागर' श्रीमद् भागवत के आधार पर लिखा गया है, तो भी पूर्ण रुप से भागवत् का अनुसरण नहीं हुआ है। सूर का उद्देश्य भगवान श्रीकृष्ण की लीला गान करना ही है। चीर-हरण, रासलीला, भ्रमर गीत आदि भागवत् के होने पर भी सूर की मौलिक एवं स्वतन्त्र रचना है। वैसे राधा-कृष्ण संयोग लीला, पनघट प्रस्ताव आदि भागवत में नहीं है। सूरदास ने अपनी रचना 'सूरसागर' में भक्ति या प्रेम तत्व को ही महत्व दिया है। प्रेम

भक्ति के पाँचों अंगों- दास्य,सख्य, वात्सल्य, माधुर्य और आत्मनिवेदन- के माध्यम से भगवत् प्रीति प्राप्त कर ली है। वे स्वयं को वृन्दावन की गोपिका माने थे। प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष में उन्होंने वियोग पक्ष को ही अधिक प्रमुखता दी है।

केरल के भक्ति साहित्य को संस्कृत भाषा के माध्यम से संपन्न बनाने का श्रेय श्री मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरि को ही है। उनका जन्म सन् 1560 ई. को निला नदी के आसपास कुरुंपत्तूर नामक गाँव में हुआ। शैशव की शिक्षा घर पर ही हुआ था। पिता मातृदत्त और बडे भाई दामोदर से भट्टतिरि ने वेद, संस्कृत, तर्क-शास्त्र, मीमांसा आदि का अध्ययन किया। फिर अच्युत पिषारोटी नामक पंडित व आचार्य से व्याकरण आदि का अध्ययन किया। अच्युत पिषारोटि का शिष्यत्व भट्टतिरि के जीवन का एक महान मोड था। पिषारोटि और भट्टतिरि के बीच का गुरु-शिष्य संबन्ध अत्यन्त गहन था। एक बार पिषारोटि वातरोग से पीडित होकर शय्यावलंबी हो गये तो उनके रोग को कर्म-विपाक-दान के रूप में भट्टतिरि ले लिया। इसके फलस्वरूप पिषारोटि रोगविमुक्त हो गये और भट्टतिरि को वातरोग पीडा हुई। श्रीगुरुवायूरप्पन के भजन से वातरोग से मुक्ति संभव है, ऐसा विश्वास है। इसलिए वे भजन के लिए गुरुवायूर मन्दिर आ पहूँचे। वहाँ मन्दिर में गुरुवायूरप्पन के पास बैठकर उन्होंने 'नारायणीयम' की रचना की। एक दिन एक दशक, वैसे सौ दिन सौवाँ दशक तक वे 'नारायणीयम' की रचना करते रहे। श्रीमद् भागवत रूपी बृहत् पुराण के सार मात्र ग्रहण करके तथा उसमें निहित भक्ति भाव को तनिक भी छुटे बिना उन्होंने 'नारायणीयम' की रचना की। सौवाँ दिन भट्टतिरि ने पूर्ण रूप से "आयुरारोग्यसौख्यम" प्राप्त की।

भट्टतिरि महान पंडित एवं साहित्य सृजन में दक्ष थे। 'नारायणीयम' के अलावा उन्होंने माटराज प्रशस्ति, प्रक्रिया सर्वस्वम्, अपाणिनीयप्रामाण्यसाधनम्, शैलाधीश्वर प्रशस्ति आदि अनेक रचनाएँ की है। पांडित्य के साथ साथ नर्म बोध भी उनकी रचनाओं की विशेषता है। रोग मुक्ति के बाद वे केरल के विभिन्न राजाओं के यहाँ रहकर अपने पांडित्य तथा साहित्य क्षमता का प्रमाण देता रहे। अपने जीवन के अन्तिम काल उन्होंने मुक्कोला अथवा मुक्तिस्थल नामक जगह के देवी मन्दिर में ही बिताये थे। उनका अन्त अनायास एवं प्रशांत था।

नारायणीयम्' वातरोग मुक्ति हेतु रचे गये स्तोत्र ग्रन्थ है। इसका आधार श्रीमद् भागवत है। इसके अलावा ब्रह्मांड पुराण, विष्णु पुराण, महाभारत आदि को भी भट्टतिरि

ने आधार स्वरूप स्वीकार किया है। अन्य ग्रन्थों से 'नारायणीयम' की यही विशेषता है कि इसमें कथाकथन भगवान की संबोधना करते हुए आगे बढ़ा है। भट्टतिरि ने भगवान की कथा स्तोत्र-पद्धति के आधार पर की है। अठारह हज़ार श्लोकों वाला बृहत ग्रन्थ है श्रीमद् भागवत। इसका संग्रहन भट्टतिरि ने एक हज़ार श्लोकों द्वारा किया है, वह भी मूल-स्रोत का एक भी प्रधान अंग छुट जाये बिना। 'नारायणीयम्' भक्ति संवर्धक रचना है। इसमें भक्ति की महत्ता के बारे में प्रकाश डाला है। भट्टतिरि कहते हैं कि भगवद् प्रेम स्वरूप भक्ति ही हृदयंगम है। उन्होंने अपनी रचना में प्रेम भक्ति के सभी अंगों को स्वीकार किया है। आर्त होकर उन्होंने प्रारंभ किया, सख्य भाव से आगे बढ़ा और माधुर्य प्रेम की परिसमाप्ति तक पहूँचते उन्होंने भगवद् साक्षात्कार प्राप्त किया तथा उन्हें रोगमुक्ति भी हुई। इस रचना की फलश्रुति भी ऐसी है कि इस कृति के रचनाकार को ही नहीं, जो इसे भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं और जो उसे भक्ति से सुनते हैं उनको भी 'आयुरारोग्यसौख्यम्' प्राप्त हो जाएगा।

जो प्रेम व्यक्ति, समाज आदि के प्रति है, वह भौतिक प्रेम है। लेकिन वह प्रेम जब ईश्वरोन्मुख हो जाता है तो भक्ति का रूप धारण कर लेता है। शांडिल्य, नारद, जीव गोस्वामी, गीताकार, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदि ने प्रेम भक्ति की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। इन्हीं के अनुसार प्रेम भक्ति ,ईश्वर की ओर निर्बाध गति से होने वाला मन का प्रवाह है। वह निष्काम भाव से अपने को उस नारायण के चरणों पर समर्पण करना है। भगवद् प्रेम रूपी सुधासागर में डूबने से मानव अमर बन जाता है। भक्ति की अनेक कोटियाँ हैं। इन में सर्वोच्च स्थान प्रेम भक्ति का है। भक्ति की विशेषता के बारे में नारद भक्ति सूत्र तथा श्रीमद् भगवत् गीता में बताते हैं कि प्रेम भक्ति का स्वभाव पूर्ण त्याग है। अनन्य भक्ति से भगवान को देखने, उनके तत्व को जानने से ही भगवान प्राप्त हो जाता है। नारदादि आचार्यों ने भक्ति के लक्षण के बारे में बताते हुए कहा है- अथाह भक्ति के साथ करनेवाले भगवद् पूजा ही भक्ति है। भगवद् महिमा को प्रकीर्तित कथाओं में अनुराग उत्पन्न होना ही भक्ति है। निर्बाध रूप से आत्मानन्द में रमना तथा सारे कर्मों को भगवद् समर्पण करना और भगवद् विस्मृति में असहनीय पीडा होना आदि भक्ति का लक्षण है। नारद इसके लिए व्रज की गोपियों का उदाहरण देते हैं। प्रेम भक्ति को प्राप्त भक्त का लक्षण भी इसमें दिया गया है। प्रेम भक्ति के परम पद तक जो पहूँचा है वही श्रेष्ठ है। ऐसे भक्त रुग्ध कण्ठ से, पुलकित शरीर से, बहते अश्रुओं से अपने अनुभव को बताते रहते हैं। प्रेम भक्त स्वयं को ही नहीं अपने कुल को भी पवित्र बना देते हैं। ये पूर्ण रूप से भगवद् विलीन हैं।

भक्ति के फल या प्रयोजन के बारे में भक्ति के आचार्यों ने यों कहा है- प्रेम भक्त भगवद् साक्षात्कार कर सकता है। वह चौबीस

प्रकार की शक्तियों से स्वतंत्रता का आनन्द अनुभव कर सकता है। भगवद् भक्त पवमान प्रभु का आश्रय पाकर पवित्र हो जाता है। वह राग-द्वेष आदि भावों से मुक्त होकर विश्व बन्धुता के बन्धन में अपने को समेट कर लेता है। ऐसे भक्त के लिए प्रभु या भगवान करतलामलक जैसा बन जाता है। भक्ति से शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है , वह अनासक्त होकर सर्वं ईस्वरमयं का अनुभव प्राप्त करता है।

रूप गोस्वामी के अनुसार प्रेम भक्ति के मुख्य रूप से दास्य,सख्य,वात्सल्य,माधुर्य और आत्मनिवेदन जैसे पाँच अंग हैं। इन पाँच अंगों के अनुसार ही सूरदास और भट्टतिरि ने अपनी अपनी कृतियों में प्रेम भक्ति की प्रस्तुति की है। दास्य भक्ति में 'सूरसागर और नारायणीयम्' दोनों में इन दोनों कवियों ने आर्त भक्त की दीनता,हीनता,विवशता आदि को खुलकर प्रकट करते हुए भगवान से अपने उद्धार केलिए विनती करते हैं। दोनों ने यह आशंका भी प्रकट किया है कि अगर भगवान से इनका उद्धार नहीं हुए तो उन्हें अपयश होने की भी संभावना है। दास्य भक्ति में दोनों ने प्रह्लाद,ध्रुव आदि की दास्य भक्ति को भी दर्शाया है। सख्य भक्ति में सूरदास और भट्टतिरि दोनों ने कृष्ण के ग्वाल बालकों के साथ मित्रता, उनके खेल-खिलावट आदि का खूब वर्णन किया है। कृष्ण के सखा ग्वाल बालक कृष्ण को केवल सखा ही नहीं मानते वरन् उनके रक्षक भी मानते हैं। उद्धव,अर्जुन,सुदामा या कुचेल आदि के माध्यम से भी दोनों कवियों ने सख्य भक्ति की पुष्टि की है। सूरदास ने सख्य भक्ति में वियोगावस्था का भी वर्णन किया है। लेकिन भट्टतिरि ने ऐसा नहीं किया।

वात्सल्य भक्ति में 'सूरसागर और नारायणीयम्' दोनों ममतामयी मातृवत्सलता का खूब परिचय दिया है। देवकी,यशोदा, व्रज की अन्य गोपस्त्रियाँ आदि के कन्हैया के प्रति वात्सल्य प्रेम को सूर और भट्टतिरि

दोनों ने अत्यन्त हृदयहारी ढंग से प्रस्तुत किया है। सूर ने यशोदा के मातृवात्सल्य को अधिक बल दिया है। भट्टतिरि ने मातृवात्सल्य के साथ पितृ वात्सल्य का भी मोहक चित्रण प्रस्तुत किया है। सूर ने वात्सल्य प्रेम के वियोग पक्ष को भी लिया है। वृन्दावन से मथुरा चले गये

अपने पुत्र के प्रति ममतामयी माता यशोदा का वियोग वर्णन अत्यन्त मार्मिक ढंग से उन्होंने किया है। परन्तु भट्टतिरि ने वियोग पक्ष की उपेक्षा की है।

प्रेम भक्ति का सर्वोत्तम अंग है माधुर्य भक्ति। प्रेम भक्ति की दो अवस्थाएँ है- प्रेमावस्था और भावावस्था। माधुर्य भक्ति प्रेमावस्था की है। सूर और भट्टतिरि दोनों ने अपनी अपनी कृतियों में-सूरसागर और नारायणीयम् में- गोपिकाओं के कृष्ण प्रेम को विविध स्थानों में उसके उदात्त भाव में प्रस्तुत किया है। वेणुगान , चीरहरण, रासलीला, विरह जैसे प्रेम के अनुपम, असीम तथा अत्युच्च कोटि को दोनों ने दर्शाया है। प्रेम की मूर्धन्य स्थिति में अपने कुल-मर्यादा, शान-मान आदि को छोडकर कृष्ण प्राप्ति के लिए दौड आनेवाली गोपिकाओं का अतीव हृदयहारी चित्रण सूर और भट्टतिरि दोनों ने किया है। रासलीला के समय राधा-कृष्ण-गोपिकाओं का रास नृत्य, उनकी प्रणय लीलाएँ तथा उसकी परिसमाप्ति का वर्णन करते करते सूर हो या भट्टतिरि तनिक भी हिचकते नहीं। संयोग श्रृंगार का भाव पूर्ण वर्णन दोनों ने किया है।

प्रेम भक्ति के भावावस्था के उदाहरण के रूप में प्रचेतसों, अक्रूर, वृत्रासुर, प्रह्लाद आदि भक्तों की कथा को प्रस्तुत किये हैं। उनके जैसे भक्तों में अनन्य एवं निष्काम भक्ति ही दिखाई पडती है। ऐसों की रक्षा भगवान हमेशा करते हैं। इसका भी प्रतिपादन सूरसागर और नारायणीयम् में हुआ है। आत्म-निवेदन माधुर्य भाव का अन्तिम सीढी है। यह प्रेम भक्ति का अन्तिम अंग है । यह वास्तव में आत्म समर्पण ही है। इस का एक पक्ष शरणा गति है। सूर और भट्टतिरि दोनों शरणागत होकर ही अपने इष्टदेव के

पास पहूँचते हैं।सूर ने स्वयं तथा अन्य पात्रों के ज़रिए श्याम के चरणों में आत्म निवेदन किया है। वैसे भट्टतिरि ने भी अपनी तथा गजेन्द्र, कालियनाग, विप्रपत्नियों, गोपियों और रुक्मिणी की शरणागति का प्रतिपादन मन मोहक ढंग से किया है।

सांकेतिक विज्ञान के इस युग में भक्ति एक अनिवार्य तथ्य है। क्योंकि आजकल मानव को सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक रूप से अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना है। उसे हमेशा मानसिक तथा शारीरिक संघर्षों को झेलकर ही गुज़रना पडता है। ऐसी स्थिति में उसे थोडा सा चैन मिलना या मानसिक विश्राम मिलना अनिवार्य है। तब वह मन की तुष्टि का रास्ता खोजने लगता है। इस अवसर पर अगर उसे सही रास्ता नहीं मिले तो उसका जीवन और भी खराब हो जाएगा। तभी तो भक्ति की प्रासंगिकता है। भक्ति के माध्यम से मानव को निशचय ही दिशा बोध प्राप्त होता है। वह स्थिर चित्तता से जीवन पथ पर अग्रसर हो जाएगा। प्रेम भक्ति की उच्च कोटि तक पहूँचे न ही सही , नवधा भक्ति का थोडा

अनुसरण करते रहें तो धीरे धीरे वह सत्, चित् आनन्द को प्राप्त कर सकेगा। समाज में सभी प्रकार एकता साबित करने में भी भक्ति की अपनी क्षमता है। क्यों कि भक्ति प्रेम ही है। मन में प्रेम उत्पन्न हुई तो वहाँ घृणा का कोई स्थान नहीं आसक्ति या विषय जन्य मोह नहीं, डर भी नहीं। कबीर के अनुसार ढाई अक्षर प्रेम का मन में हुए तो मानव निश्चय ही उन्नति प्राप्त कर सकेगा। कलियुग में मुक्ति पाने केलिए कठिन साधनाएँ करने की कोई ज़रूरत नहीं। भक्त कवि पून्तानम ने कहा है- इस कलियुग में केवल नाम जप ही मुक्ति पाने केलिए पर्याप्त है। तब तो निष्काम प्रेम भक्ति से भक्त कहाँ से कहाँ तक पहूँच न सकेगा !

सहायक ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ सूची

1. संपूर्ण सूरसागर- सं.डॉ.किशोरी लाल गुप्त,लोक भारती प्रकाशन,इलाहाबाद-1
2. श्रीमद् भागवत्-मूल संस्कृत,हिन्दी व्याख्या-गीता प्रेस,गोरखपूर।
3. श्रीमद् भगवत् गीता-मूल संस्कृत, हिन्दी व्याख्या-गीता प्रेस,गोरखपूर।
4. नारद भक्तिसूत्र-मलयालम लिपि-चिन्मय प्रकाशन-एरनाकुलम-व्याख्याता-स्वामी चिन्मयानन्द।
5. आध्यात्मरामायण-किलिप्पाट्टु-तुञ्चत्तु एषुत्तच्छन, गुरुवायूर देवस्वम प्रकाशन।
6. श्रीमन्नारायणीयम-मेलपत्तूर भट्टतिरि,वनमाला व्यख्यान,गुरुवायूर देवस्वम प्रकाशन।
7. श्रीरामकृष्ण वचनामृतम-महेन्द्र नाथ गुप्त-मलयालम अनुवादसिद्धिनाथानन्द स्वामी-श्रीरामकृष्णाश्रम,त्रिश्शूर।
8. श्री देवीमाहात्म्य-किलिप्पाट्टु- शान्ता बुक स्टाल,गुरुवायूर।

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (दो भाग)-डॉ.दीन दयाल गुप्त,हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग।
2. अष्टछाप परिचय-प्रभु दयाल मीतल,अग्रवाल प्रेस,मथुरा।
3. आदि शंकराचार्य, जीवन और दर्शन-जयराम मिश्र, लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद-1।
4. आलवा भक्तों का तमिल प्रबन्ध और हिन्दी कृष्ण काव्य-डा. मलिक मुहम्मद,विनोद पुस्तक मन्दिर,आगरा।
5. उत्तर मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भक्ति का स्वरूप ,डा.नित्यानन्द शर्मा.एम.ए.पि.एच.डी.,आशा प्रकाशन,नई दिल्ली-110005.

6.कृष्ण काव्य में लीला वर्णन,जगदीश भरद्वाज,निर्मल कीर्ति प्रकाशन,नई दिल्ली।

7.तमिल और हिन्दी का भक्ति साहित्य, एक तुलनात्मक अध्ययन-डा. एन.चन्द्रकांत,दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,चेन्नै-17।

8. पून्तानवुम् भक्ति प्रस्थानवुम्-मलयालम-प्रो.चेरुकुन्नम् पुरुषोत्तमन,केरल भाषा इन्स्टिट्यूट,तिरुवनन्तपुरम।

9. परमानन्द दास और वल्लभ संप्रदाय-गोवर्धन नाथ शुक्ल,भारत प्रकाशन मंदिर,अलीगढ़।

10.भक्ति आन्दोलन और सामाजिक जागरण-डा. पी.के राधामणि,सार्थक प्रकाशन,गौतम नगर,नई दिल्ली-110049.

11.भक्ति का विकास-डा. मुंशी रामशर्मा,चौखंबा विद्या भवन,वाराणसी।

12.भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य-मैनेजर पांडेय,वाणी प्रकाशन,नईदिल्ली-110002.

13. भगवत् गीता स्वाध्यायम-मलयालम-नित्य चैतन्य यति,डी.सी.बुक्स,कोट्टयम।

14 .भारतीय कृष्ण काव्य और सूरसागर-सं. नगेन्द्र, सूर्यप्रकाशन, दिल्ली-06.

15.भारतीय साधना और सूर साहित्य-डा.मुंशीरामशर्मा,आचार्य शुक्ल,साधना सदन,कानपुर।

16. भारतीय साहित्य-डा.रामछबीला त्रिपाठी,वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली।

17.भारतीय साहित्य कोश-भाग 1,2- अमन प्रकाशन,कानपुर।

18 .मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का सामाजिक विवेचन-डा.सुमन शर्मा,

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

19 .मध्य कालीन कृष्ण काव्य-डॉ.कृष्णदेव झारी,हिन्दी साहित्य संसार,दिल्ली।

20.मीराँबाई शोध प्रबन्ध-डा.प्रभात,हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर,मुंबई-4

21.रसखान काव्य तथा भक्ति भावना-डा.माजदा असद,साहित्य सदन,देहरादून।

22.विवेकानन्द साहित्य सरवस्वम्-भाग-1,योगत्रयम-मलयालम-सी.जी.नारायण पिल्लै,शताब्द स्मारक प्रकाशन।

23.वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन-डा.मलिक मुहम्मद, राजपाल एण्ड सन्स,काश्मीरी गेट,दिल्ली।

24. सुदामा चरित-नरोत्तम दास.

25. सूरसागर सार-सटीक-सं.डा.धीरेन्द्र वर्मा,साहित्य भवन,इलहाबाद।

26.सूरदास-शोधपूर्ण जीवन वृत्तांत-प्रभुदयाल मीतल,विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी।

27.सूर और उनका साहित्य-डा.हरवंशलाल शर्मा,भारत प्रकाशन मन्दिर,अलीगढ़।

28.सूरदास-ब्रजेश्वर वर्मा,लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद-1.

29.सूरसागर और कृष्णगाथा एक अध्ययन-डा.चेरियान जार्ज,जवाहर पुस्तकालय,मथुरा।

30.हिन्दी सगुण भक्ति काव्य के दार्शनिक स्रोत-रामचन्द्र देव,लोकभारती प्रकाशन,इलहाबाद-1.

31.हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य-डा.के भास्करन नायर,राजपाल एण्ड सन्स,दिल्ली-6.

32.हिन्दी साहित्य का इतिहास-डा,रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा,काशी।

33.हिन्दी साहित्य का इतिहास-डा.चातक,प्रो.राजकुमार शर्मा,कालिज बुक डिप्पो,जयपुर,राजस्थान।

34.हिन्दी साहित्य का इतिहास- विजयेन्द्र स्नातक,साहित्य अकादमी, नई दिल्ली-1